किसानों की प्रतिनिधि संस्था के रूप में स्वीकार किया गया एवं उसे कुछ कानूनी अधिकार भी प्रदान किए गए। बिजोलिया का यह सफल और शानदार किसान-सत्याग्रह पथिक जी की कृति था। उन्होंने किसानों के बीच रह कर उसे चलाया और सफल बनाया। बिजोलिया के किसान पथिकजी की सेवाओं को आज भी याद करते हैं और उनकी स्मृति में अपना सिर श्रद्धा से झुका लेते हैं।

बिजोलिया के किसान सत्याग्रह के सिलसिले में ही पथिकजी अमर शहीद स्वर्गीय गणेशशंकर जी विद्यार्थी के सम्पर्क में आए और दोनों की मित्रता अंत तक बनी रही। बिजोलिया के किसानों ने विद्यार्थी जी को राखी भेजी थी और विद्यार्थी जी ने बिजोलिया के किसानों की कष्ट-गाथा और आन्दोलन को अपने पत्र 'प्रताप' द्वारा नियमित प्रसिद्धि प्रदान की। उसके फलस्वरूप उन्हें राज्य का कोपभाजन बनना पड़ा और 'प्रताप' का राज्य में प्रवेश निषेध कर दिया गया। किन्तु कोई भी स्वाधीनचेता पत्रकार न्याय का पक्ष लेने से कैसे विरत हो सकता है? विद्यार्थी जी सचमुच एक स्वाधीन चेता पत्रकार थे।

बिजोलिया के समीप ही बेगू एक और सामन्ती ठिकाना था। यहाँ के किसान भी पथिक जी और राजस्थान सेवा संघ के नेतृत्व में सामन्ती शोषण के विरुद्ध आन्दोलन कर रहे थे। यहाँ राज्य ने समझौते के बजाय दमन का आश्रय लिया। राज्य ने किसानों के एक मजमे पर गोलियाँ चलाईं। दो किसान शहीद हुए और सैकड़ों को गिरफ्तार कर लिया गया। यह सब राज्य के एक अंग्रेज अधिकारी की देख रेख में हुआ। पथिक जी इस गाढ़े वक्त में किसानों का अकेला नहीं छोड़ सकते थे। वे किसानों को हिम्मत बँधाने और उनका नेतृत्व करने के लिए उनके मध्य पहुँच गए। राज्य ने मौका देखकर पथिकजी को गिरफ्तार कर लिया। उन पर एक विशेष न्यायालय के सामने राजनैतिक के आरोप में मुकदमा चलाया गया। यह एक ऐतिहासिक मुकदमा था। पथिक जी ने न्यायालय के सामने एक विस्तृत बयान दिया था। उसमें उन्होंने रियासतों में ब्रिटिश कूटनीति के षड्यंत्रों का पर्दाफाश किया था और रियासती जनता के दमन शोषण और उत्पीड़न की एक नंगी तस्वीर खींचकर रख दी थी। राज्य के उच्चतम न्यायालय से निर्दोष सिद्ध होने के बाद भी पथिकजी को महाराणा की विशेष आज्ञा से जेल में बन्द रखा गया। उन्हें पाँच वर्ष तक उदयपुर की जेल में रहना पड़ा। इस अवधि में पथिकजी ने ढेर सारे साहित्य की रचना की। यह 'प्रहार विजय' काव्य भी उसी काल की

रखना है। सन् १९२८ में जब वह जेल से रिहा हुए तो उनका सारा साहित्य राज्य ने अपने पास रोक लिया था और उनका मेवाड़ में प्रवेश निषेध कर दिया था। स्वतन्त्रता के बाद ही जेल में लिखा हुआ साहित्य उन्हें वापस मिल सका और वह अब उनके निधन के बाद धीरे-धीरे पाठकों के सामने आ रहा है।

उदयपुर जेल से रिहा होने के बाद पथिकजी ने अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् की प्रवृत्तियों में हिस्सा लेना शुरू किया और वह उसके उपाध्यक्ष चुने गए। कांग्रेस ने शुरू से ही अपने को देशी रियासतों के आन्दोलनों से अलग रखा। उसके नेताओं का यह मानना था कि कांग्रेस को एक समय एक ही मोर्चे पर अपनी शक्ति केन्द्रित करनी चाहिए। अगर अंग्रेजों से निपट लिया गया तो राजा-महाराजा अपने आप ठीक हो जाएँगे। किन्तु पथिक जी और दूसरे रियासती नेताओं की मान्यता इससे भिन्न थी। उनका कहना था कि यदि रियासतों को अछूता छोड़ दिया गया तो अंग्रेज राजाओं का उपयोग भारतीय स्वतन्त्रता के विरोध में करेंगे। अगर रियासती जनता संगठित और जागृत होगी तो स्वतन्त्रता का पक्ष पुष्ट होगा और राजा-महाराजा राष्ट्र विरोधी रुख न अपना सकेंगे। प्रजा का दबाव उनको पथ भ्रष्ट न होने देगा। घटनाओं ने इस मान्यता का औचित्य ही सिद्ध किया। उस समय कांग्रेस ने रियासतों में अपनी शाखाएँ कायम करना स्वीकार नहीं किया किन्तु पथिक जी और दूसरे रियासती नेताओं के अनुरोध पर सन् १९२० में रियासती जनता को कांग्रेस ने प्रतिनिधि बनने का अधिकार दे दिया। रियासती जनता को अपने राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई स्वयं ही लड़नी पड़ी। अवश्य ही कांग्रेस की नैतिक सहानुभूति उनके साथ थी।

राजस्थान सेवा संघ के सम्बन्ध में यहाँ दो शब्द कहना अप्रासंगिक नहीं होगा। जिस प्रकार स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले ने राष्ट्र के लिए आजीवन सेवा का व्रत लेने वाले कार्यकर्ता सुलभ करने के लिए भारत सेवक समिति और स्वर्गीय लाला लाजपतराय ने लोक सेवक समिति जैसी संस्थाओं की स्थापना की थी वैसी ही पथिकजी द्वारा स्थापित यह संस्था भी थी। इसमें राजस्थान का आजन्म सेवा का व्रत लेने वाले कार्यकर्ता इकट्ठे हुए थे। यों कहना चाहिए कि यह कार्यकर्ताओं का एक नया कुटुम्ब ही स्थापित हुआ था। उसमें कार्यकर्ताओं ने व्यक्तिगत [illegible] और निजी स्वार्थों का [illegible] के लिए नियोजित कर दिया था। यह देश के लिए काम करने वाले [illegible] और [illegible] कार्यकर्ताओं की संस्था थी और उसकी गतिविधियों ने सारे

राजस्थान को हिला दिया था। स्थानीय प्रजामण्डलों के अस्तित्व में आने के पहले राजस्थान के जिस किसी हिस्से में भी कोई आन्दोलन उठा चाहे वह सिरोही का भील आन्दोलन हो चाहे बूंदी का किसान आन्दोलन और चाहे अलवर में नीमूचाणा का हत्याकाण्ड इस संस्था के कार्यकर्ता पीड़ितों का पक्ष लेने और उन्हें राहत पहुँचाने के लिए सबसे आगे होते थे। आज वह निष्ठा और लगन कार्यकर्ताओं में क्वचित ही दिखाई देती है जो इस संस्था के कार्यकर्ताओं में थी। राजस्थान के जन जागरण में पथिकजी और राजस्थान सेवा संघ का योग कभी भुलाया नहीं जा सकता।

पथिकजी का लेखक और कवि एक उच्च मिशन से प्रेरित था। उन्होंने अनेक पत्रों को जन्म दिया और उनका सफलतापूर्वक सम्पादन किया। उन्होंने सन् १९२० में वर्धा से स्वर्गीय सेठ जमनालालजी बजाज के सहयोग से 'राजस्थान केसरी' साप्ताहिक निकाला। उसके बाद अजमेर से 'नवीन राजस्थान' को जन्म दिया जो बाद में 'तरुण राजस्थान' बना। उसके बाद उन्होंने अजमेर से ही 'राजस्थान सन्देश' निकाला। वह राष्ट्रीय पथिक निरंकुश और अलख नाम से काव्य-रचना करते थे। उनके काव्य में भावों की उड़ान देश भक्ति, व्यंग्य-विनोद और मार्मिकता के दर्शन सहज ही होते हैं। उनके लेखों और निबंधों की ओजस्विता देखते ही बनती है। उन्होंने इतिहास की विशेषकर राज्यों के इतिहास की खोज-खोज का भी बड़ा काम किया है। साहित्य की जो साधना उन्होंने की है वह केवल मानव संस्कारों के परिष्कार के महत् हेतु से प्रेरित होकर। इसलिए उनके साहित्य का स्थायी महत्व है।

पथिकजी ने देश को राष्ट्रीय झण्डा गान दिया है। केवल इस गान के कारण ही वह साहित्य में अमर होने चाहिए। अजमेर-जेल में बन्द सत्याग्रही बंदी जब यह झण्डा गान गाते थे तब उनसे कितनी प्रेरणा पाते थे। उसकी ये प्रथम पंक्तियाँ प्राण मिलो सभी ही मैं ताना पर झण्डा न यह नीचे झुकाना' जनजीवन मन में आज भी सदा ही गूँजती रहती हैं। उनके काव्य में कितनी दृढ़ता और ओज था उसका एक नमूना यहाँ देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। कवि राजस्थानियों का आह्वान करता है और फिर उनकी ओर से शुभ प्रतिज्ञा भी करता है :—

रेशम समझ कर रेशियों को ही गहा अपनाएँगे
हैं भीम यदि हमको मिलेंगी भस्म देह रमाएँगे।

मुझे चने खाने पड़ें, पकवान मिलकर खाएँगे
शासन न होगा पास पथ का पयाम बिछाएँगे ।
क्या विश्व के शासक हम सब का प्रताप मिटाएँगे
हम देश हित यमराज से भी मुदित हाथ मिलाएँगे ।
छिन छिन भयंकर कष्ट आ पड़े निर्भय खड़े रह जाएँगे
पर वीर राजस्थान का हर्गिज न नाम डुबोएँगे ।

पथिकजी राजस्थान की जन जागृति के अग्रदूत थे । उन्होंने राजस्थान में क्रान्ति की अग्नि को प्रज्वलित किया । वह अग्नि धीमे-धीमे प्रखर होती गई और अन्त में अन्याय और अत्याचार पर टिकी सामन्ती व्यवस्था को भस्म करके ही शान्त हुई । नमक सत्याग्रह के समय वह राजपूताना मध्यभारत और अजमेर-मेरवाड़ा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष थे और इसी नाते वह दुबारा जेल गए । जेल में उन्होंने एक कविता लिखी थी—'कुछ बजरंग कैदी खाते हैं' जो हास्य विनोद का उत्तम नमूना है । पथिकजी अपने प्रारम्भिक जीवन में बड़े आस्तिक थे । गीता के निष्काम कर्मयोग में उनकी गहरी आस्था था । धीरे धीरे उन पर मार्क्सवाद का प्रभाव गहरा होता गया था । वह सदा समाजवाद को वह भावी समाज व्यवस्था स्वीकार करते थे ।

देश स्वतंत्र हुआ किन्तु स्वतन्त्रता के बाद देश में जिन परिस्थितियों का निर्माण हुआ उनके अनुकूल वह अपने को बना नहीं पाए । उनकी सेवाओं की जो स्वीकृति मिलनी चाहिए थी वह उन्हें नहीं मिली और इसलिए उनका मन वितृष्णा से भर गया था । आज से कोई सात वर्ष पूर्व अजमेर में एक साधारण-सी बीमारी के बाद ७२ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया । मृत्यु से पहले अजमेर के पास कार्यकर्ताओं के लिए एक साधना आश्रम और साहित्य प्रकाशन केन्द्र स्थापित करने की उन्होंने योजना बनाई थी कारण वह निष्क्रिय बैठने वाले व्यक्ति नहीं थे । समाज को कुछ न कुछ देना चाहते थे । किन्तु उनकी मृत्यु ने उनके जीवन कार्य को बीच में ही समाप्त कर दिया । देश की स्वतन्त्रता और नव समाज की रचना के लिए अन्याय और अत्याचारों से लोहा लेने वाले एक उद्भट योद्धा का जीवन-दीप बुझ गया और उसके बाद कभी पूरी न होने वाली रिक्तता सी छा गई है ।

पथिकजी के जीवन का यह संक्षिप्त परिचय यहाँ इसलिए दिया जा रहा है कि पाठक इस काव्य के लेखक के व्यक्तित्व से भली प्रकार परिचित हों ।

मर्श पाया। उनके राजनीतिज्ञ ने उनके कवि-मन के प्रस्फुटन में निरन्तर बाधा डाली।

यहाँ मैं केवल उनके कवि-रूप की चर्चा करना चाहता हूँ। स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिकों को 'राष्ट्रीय पथिक' का परिचय देने की आवश्यकता नहीं। उनकी कविताएँ उस समय नई भावना का नई चेतना का प्रतीक बनी हुई थीं। लेकिन उनका कवि अपनी चरमस्थिति में पहुँच सका 'प्रह्लाद विजय' में।

मैं हैरान हूँ कि यह पुस्तक रची जाने के लगभग तीन शताब्दियों बाद अब प्रकाश में आ रही है। दो शताब्दियों तक तो यह उदयपुर राज्य के कारागार में कैद रही और उसके बाद पथिक जी अपनी व्यस्तताओं में उसके प्रकाशन की सुविधा न जुटा पाए। अब भी यह प्रकाशकों के उत्साह के कारण प्रकाश में नहीं आ रही है बरन् इसका श्रेय पथिक जी के उन स्नेहियों साथियों एवं भक्तों को है जो उनकी कीर्ति रक्षा का प्रयत्न कर रहे हैं।

पुस्तक उदयपुर कारावास में रची गई है। शायद इस प्रकार के व्यस्त साहित्यिक राजनीतिज्ञों के लिए कारावास ही ऐसा स्थल है जहाँ वे अन्य चिन्ताओं से मुक्त होकर साहित्य सृजन में दत्तचित्त हो सकते हैं। खंड-काव्य का आधार सुरासुर-संग्राम की सुपरिचित पौराणिक कथा है—हिरण्यकशिपु [हिरण्यकश्यप] का देवलोक पर आक्रमण उसका उपरान्त भयानक संग्राम अंत में देव-पक्ष की विजय और हिरण्यकशिपु का पलायन उसकी गर्भवती रानी का देव-सेना के हाथ में पड़ जाना और ऋषि का उसको सदुपदेश जिसके प्रभाव से कालान्तर में रानी के गर्भ से जन्म लेकर प्रह्लाद ने असुरों का उद्धार किया।

कथा का चयन करने में पथिक जी ने काफी सूझ-बूझ से काम लिया है। उसके विकास में उन्होंने आसुरी साम्राज्यवाद का उनके पाशविक समाज का नारियों की दुरवस्था का देवों के सत्य-अहिंसा व्रत का और भावी समता आधारित विश्व के स्वप्न का जैसा चित्र खींचा है उसने उन्हें मात्र कवि नहीं रहने दिया बरन् भविष्यद्रष्टा बना दिया है और उन्हें राष्ट्रीय कवियों की सर्वाग्रणी पंक्ति में ला बैठाया है।

रचना की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पथिक जी वातावरण से निराश होकर न तो महाशान्ति की आवाज लगाते हैं और न मात्र किसी राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ आने का आह्वान देते हैं। उन्होंने जिस साम्राज्यवाद विरोधी दृष्टिकोण को अपनाया है और समता शान्ति तथा न्याय पर आधारित

जिस नए विश्व की कल्पना की है उसने इस रचना को देश तथा काल की सीमाओं से ऊपर उठा दिया है। यही कारण है कि आज तीन दशाब्दी बाद इसका प्रकाशन होने पर भी, भले ही उसका शब्द-विन्यास एवं भाषा कुछ पुरानी लगती हो ऐसा आभास होता है कि पश्चिम की आज भी अवशिष्ट साम्राज्यवाद को युद्ध के पूजक पशु को उसी रूप में ललकार रहे हैं और उसके प्रतिकार के लिए सत्य तथा अहिंसा का वीरतापूर्ण आदर्श हमारे सामने रख रहे हैं। इस सम्बन्ध में मौलिकता बरतते हुए भी वह देश की प्रमुख गांधीवादी धारा से कहीं विलग नहीं होते—

> नहीं वीरता है विद्युतो ! कहीं पर वध करने में
> है वीरत्व सत्य पर निर्भय होते हुए मरण में !
> सच्चा विजयी है न वह जयी होकर जो आता है
> प्रत्युत वह जो बिना झुके निज प्रण पर मिट जाता है।

कलिंगोत्तर अशोक की भांति ग्रन्थ की शिक्षा आज दो महासमरों से पीड़ित पश्चिम मानवता की शिक्षा बन जाती है—

> युद्ध नहीं कुछ धर्म-कार्य है हिंसा नहीं प्रशस्त है
> स्वातंत्र्याभिग पुरुषार्थ ही बस उसकी अनुमति है।

इसी युद्ध के विरुद्ध समस्त संसार की नारियों—माताओं बहनों व पत्नियों—का स्वर देती हुई हिरण्यकशिपु की माता कहती है—

> असुर-महिषी कहती 'गुरुवर ! मुझको है यह दृढ़ विश्वास
> कि रखना प्राणिमात्र पर प्रेम, मात्र है श्रम और परिहास !
> अपर बड़ा होगा क्या प्रभो ! युद्ध करना मैं जितनी पाप
> हृदय ईर्ष्या मात्सर्य का भरा मानना अत्याचार का भाग।"

अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की कल्पना कविवर गुरु बृहस्पति के शब्दों में—

> निश्चय हुआ सभी देशों को आमंत्रण भिजवाना
> एक नगर पर राष्ट्र-समूहों के प्रतिनिधि बुलवाना !
> भिन्न भिन्न भाषा आकृति वाले विभिन्न वर्णों के
> भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले भिन्न-भिन्न धर्मों के
> राज्य प्रजा सबके प्रतिनिधि विद्वान और व्यवसायी
> सबने मिल की विश्व-शान्ति की सुगम नीति बनाई।

और अंत में इन्द्र के शब्दों में नए विश्व का स्वप्न देखिए—

फिर, इस रूप-रम्य जग में सुख का समुद्र लहराए,
फिर जगत पर बन्धु-भाव की विमल चंद्रिका छाए।
फिर, मलयज सुरभित कुंजों स्मित पुष्पों से भर जाएँ,
फिर, कोकिल 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की रागिनी सुनाएँ।
फिर, बल की पूजा उठकर हो सत्य न्याय की चर्चा
फिर, घर-घर में स्वार्थ छोड़ हो व्यक्ति-भक्ति की चर्चा।

काश! यह रचना समय से प्रकाश में आ गई होती। कौन कह सकता है कि तब हिन्दी और विश्व साहित्य को पथिक सी व इससे भी श्रेष्ठ रचनाएँ न मिली होतीं।

शारदेन्दु

दैनिक हिन्दुस्तान
नई दिल्ली।

प्रथम सर्ग

ग्रीष्म का प्रभात था प्रकाशपूर्ण पर्वतों में
गिरी रुपहरी सी ज्यों रवि छटा रही
गर्वी भवनों के चारों ओर नये उपवनों में
थी मन्द सुरभित समीर महका रही ।
अरुण के प्रेम-पगी कुंकुमी प्रभा थी घूम
शिशु सुमनों के कंठ गुदगुदी मचा रही
धीरे धीरे कर कुसुमों के मुख पर रख
प्यार हँसती थी औ थी विश्व को हँसा रही ।

देख इन अरुण प्रभा की अठखेलियों को
सुन्दर सृष्टि भी थी यों मुदित मुस्का रही
मानो नव-मोहिनी कमलिनी स्वच्छ सर पर
देख छवि-रूप हो न पलकों में समा रही ।

या स्वर्भूमि साम्य की निशा का अन्त आया देख
पुष्प-पंक्ति पुलक पराग हो लुटा रही
अथवा कमल राशि देख उष-नाथ नेत्र
खोले सर में हो हास्य हिलोरें उठा रही।

ऐसे ही समय प्रातकाल के नक्षत्र-सम
क्लान्त एक सैनिक पुरी की ओर आता था
कभी पीछे देखता था कभी निज धूल-भरे
वस्त्र पद-बाहुओं की धूल झटकाता था।
बढ़ाता कभी था वह पैरों की प्रगति कभी
दृष्टि गगनचुम्बी दुर्ग की दिशा उठाता था
कभी किसी चिन्ताभिभूत हुआ भूल जाता—
मानो यह भी कि किस ओर चला जाता था।

ऐसा ध्यान-मग्न था कि आसपास के प्रणाम—
प्रश्न भी न सुने धुन बाँधे चला जाता था
ध्यान ही न था कि वन है या इन्द्रपुरी है यह,
आ रहा था कोई सामने या नहीं आता था।
चला जा रहा था राजमार्ग के किनारे किन्तु
कल्पना का स्वप्न उसे जाने क्या दिखाता था
जाने जयघोष ही कि पैर भी "पथिक" कैसे
ठीक-ठीक नापे हुए क्रम से बढ़ाता था!

देखते-ही-देखते सघन पुर-वीथियों में
पान्थ आगतुकी तरंग ज्यों विलीन हो गया
क्षण भर के लिए विचित्र मनोवृत्ति लिये
आसपास आदि को अचम्भे में डुबो गया!

मानो शून्य विस्मित विभिन्न सुर वाद्य-ध्वनि को
भली भाँति देखने के पूर्व कोई खो गया
या उड़ान भरे जाता पक्षि पहचानने के
पूर्व ही ज्यों कुसुमित सिहरों मग्न हो गया !

इसी समय सुर-सदन की घन-गगन-गम्भीर—
दुंदुभि वाद्य-ध्वनि से सकल गूंज उठी प्राचीर !

फिर क्षण भर पश्चात् ही वहीं समराङ्गण
रक्त-पताका दुर्ग पर भरने लगी उड़ान !

तत्क्षण सबकी दृष्टि दुर्ग की ओर जा लगी
हृदयों में भय-शंकाओं की भीड़ आ लगी
सभी लगे निज दृष्टि-बिन्दु से अर्थ लगाने
एवं अपने ही विचार को सत्य बताने !

सुरांगनाओं की सभा जगह जगह जुड़ने लगी
घर घर में इस प्रश्न की ही चर्चा छिड़ने लगी !

अमर देवगण संध्याह्निक का साज छोड़ कर,
विचलित चंचल-चित्त नियत दृति नियम तोड़ कर,
सज्जित हो निज पड़ोसियों का साथ बनाते
अपने अपने अनुमानों की कथा सुनाते

चल-चल मिल सब दुर्ग की ओर समोत्सुक चल दिए
ज्यों हों सरिता जा रही सिन्धु मिलन निज मग लिए

क्षण भर में नन्दन-वन सुर-कान्तार बन गया
सूना तब पर सुचिन्तावान् भार थम गया
सत्य जानने की सबको धुन लगी हुई थी
सबही के मन में उत्सुकता बनी हुई थी।
अकस्मात् जय घोष से नभ-नील नभ हिल उठा
जिसे श्रवण कर सुरों का मुख सरसिज-वन खिल उठा।

दिव्य तपस्वी-वेष मन्द गति चरण उठाते
पवित्रता की प्रभा दिशाओं में फैलाते
कृपा-दृष्टि से सुधा-वृष्टि सबपर बरसाते
नत होते सुर-शिर-सुमनों को शीश झुकाते—
'क्षमा ! क्षमा !' की प्रतिध्वनि में मृदु मुसकाते हुए
दीख पड़े सुरवर-सहित निर्जर-पति आते हुए!

क्षण भर में सारी गम्भीरता काफूर होगई
मानो सब उत्सुकता चिन्ता दूर होगई;
प्रेम और श्रद्धा से सबका हृदय भर गया
पंक्ति-पंक्ति में मानो सरस प्रसाद फिर गया!
सिंहासन के निकट आ सुरपति सहसा रुक गए;
सम्मुखीन सुर-पंक्ति के शिर आदर से झुक गए!

सबको स्वस्थान बैठने का देकर आदेश
घन-गंभीर मृदु-कंठ से कहने लगे सुरेश!

"देवगण! निश्चय होंगे आप समोत्सुक सुनने को यह हेतु
बुलाया है सबको जिसलिए, दिखाकर विरति का संकेत!

बात भी है ऐसी ही मन्यु ! तनिक-सी भी करने से देर
कदाचित कर सकते हम न भावी में कुछ हेरा-फेर !
व्यर्थ है परिश्रम वैसा तुम्हें 'इष्ट भर'[1] के असुरों का मित्र
कर चुके हैं जो अपने आप समर्पित काश्यप-वंश-पवित्र !

फिर वही हिरण्यकश्यप नृपति साथ ले अगणित सैन्य समूह
सजाकर कठिन समर के साज बना चक्राकृत सूची-व्यूह
चोर की भाँति रात्रि के समय आज है सीमा पर आ चढ़ा
और अब इन्द्रपुरी की ओर चला आता है लड़कर बढ़ा
इस तरह जब जिस सुरमर्दि-भूत सुरों का था मेला जुड़ रहा
आज है वही अनय का चिह्न असुर दल का झण्डा उड़ रहा !"

आक्रमण की अरि के सुन कथा भृकुटियाँ सुरगण की चढ़ गईं
फड़कने लगे ओष्ठ रद-पंक्ति स्वयं ही ओष्ठों पर चढ़ गई !
तीव्र हो चली श्वास-गति नयन क्रोध से कम्पित हो जल उठे
हृदय के स्थिरतम कोमल भाव भी अमृत जित हो हिल उठे !
फड़कते हुए दीर्घ भुज-दण्ड स्वयं ही असि पर जाने लगे
आक्रमण कर देने को स्वयं चरण मानो अकस्मात लगे !

शचीपति फिर बोले 'सुरवृन्द ! व्यर्थ है करना यह भी ध्यान—
कि किसका जिसका भर-भार किसी के भी प्राणों का मान
अहित हैं जितने अप्रिय-दुष्ट हमारे लिए सदा से ये
लोक में कष्ट हैं न जो इन्हें दानव का दमन हो गये !
रहा है सुर-समाज का सदा सुनिश्चित साथ विजय उपहार
विजय में साम्य सत्य न्यायमय शान्ति का पैमाना अधिकार !

[1] स्पष्ट —'इष्ट भर' [illegible]

किन्तु प्रश्न है राष्ट्र की स्वतंत्रता का आज
जीवित रह सकता नहीं खोकर जिसे समाज।

स्वतंत्रता है प्राण सृष्टि के शुभ कर्मों की
स्वतन्त्रता है भित्ति भक्ति की सद्धर्मों की
स्वतन्त्रता है जीवन का जीवन चेतन में
स्वतन्त्रता है शोभा की शोभा उपवन में।

स्वतन्त्रता ही विश्व में है सुरतरु। सुरपुर-मुक्ति
स्वतन्त्रता ही ब्रह्म है स्वतन्त्रता ही है प्रकृति।

स्वतन्त्रता ही उन्नति का पथ दिखलाती है,
स्वतन्त्रता ही सत्य-साधना सिखलाती है
स्वतन्त्रता है जीवन को रमणीय बनाती
स्वतन्त्रता है कर्मों को करणीय बनाती।

स्वतन्त्रता के साथ ही मनुष्य का मनुष्यत्व है
स्वतन्त्रता ही सुरों को देती पद देवत्व है।

जो जन अपना राष्ट्र-स्वशासन खो देते हैं
वे जीवित ही जीवन से कर धो लेते हैं
परवशता-विष उन्हें मिटाता ही जाता है
नीति-भ्रष्ट कर क्षुद्र दासता सिखलाता है।

शौर्य प्रेम मानादि गुण फिर उनमें मिलते नहीं
सलिल-हीन सर में कभी रिमत-सरोज खिलते नहीं।

जो सुरगण परतंत्र होगए असुर-नृपति से
तो समझो सुर-धर्म उठ गया विश्व प्रकृति से
असुर राज्य की भाँति सुरों को है फिर शिक्षा
ही पाएगी कुटिल असुर-दर्शन की दीक्षा।

हिंसा असुर विनाश तब निश्चित बनेंगे सहज ही
असुरों के आघात से कांप उठेगी सुर-मही !

जाएगा अबोध सुर-शिशुओं को सिखलाया
कि है असुरराज ने इस भू को स्वर्ग बनाया
और यह कि वे उनके पितृ असभ्य अज्ञानी
ध्येय बनेगा फिर उनका करना मनमानी !

भेद-भाव गृह-कलह के सुर बन बैठेंगे सदन
पापी पाएंगे पदक धार्मिक पाएंगे दमन !

अतः कहो, परवशता को स्वीकार करोगे ?
अथवा रण में अरि से लड़ते हुए मरोगे ?
बन असुरों के दास चरण उनके धोओगे ?
अथवा विजयी हो बलिवेदी पर सोओगे ?

देखोगे निज देश की स्वतंत्रता जाती हुई ?
अथवा अरि की सैन्य को शोणित में न्हाती हुई ?

क्या देखोगे तुम सुरपुर को दीन मुरझाते ?
स्वदेश में ही पर के सम्मुख कर फैलाते ?
क्या कुंजों में बन्दी हुई वे सुर-बालाएं—
सुर-युवकों के कुसुमों की सुन्दर मालाएं—

होंगी विजय विलास की सेज सजाने के लिए ?
और देखते रहोगे तुम सब सिर नीचे किए ?

"नहीं ! नहीं !" के घोर से गूंज गया आकाश
गर्जन फिर करने लगे सुर-युवको आह्वान !

धन्य वीरगण ! यही तुम्हारे योग्य बात है
इस साहस के सम्मुख रिपु की क्या बिसात है ?
हो जाओ रण-सज्ज आज निज बल दिखलाओ
मरना कहते किसे शत्रु को यह सिखलाओ !
    बलि-वीरों की हाँक से आज उपग्रह-वाह हिलें
    पग-पग पर रण भूमि में शोणित नदियाँ बह चलें !

दिखलाओ यद्यपि हैं हम सब शान्ति-उपासक
नहीं चाहते बनना हम औरों के शासक
यद्यपि हममें हर गृहस्थ सबमें स्वतंत्र है
यह स्वतंत्रता ही सुरपुर का राज्यतंत्र है
    तदपि तंत्र रक्षार्थ हम एकतंत्र अधीन हैं,
    हैं प्रशान्त उतने अधिक ही हम युद्ध प्रवीण हैं !

दिखलाओ जिस भाँति हमें रहना आता है
घोर शत्रु से भी भिड़कर रहना आता है
प्रेम-न्याय के सम्मुख हम जिस भाँति सुमन हैं
सज्जनता के सम्मुख ज्यों हम चरण-सुमन हैं
    उसी तरह सामन्त के लिए प्रलय की ज्वाल हैं
    स्वतंत्रता के शत्रु के दुर्दम काल-कराल हैं !

जाओ सजकर नगर-द्वार पर सब आजाओ
सावधान हो निज सेना का व्यूह बनाओ
मैं गुरुवर के सहित तुम्हारे साथ चलूँगा
बूढ़ा हूँ परन्तु रण में तो प्रथम बढ़ूँगा ।
    आज देखना है समर में किसका जौहर चले
    खबरदार कोई युवा आज न घर सोता मिले !

उठो वनिता देखें असुर देखे सब संसार
कि है अब इस शान्ति-घर में भी प्रलय-श्रृंगार !
उठो सिंह ज्यों वार खाकर सम्मुख आता है
ठोकर खा जिस तरह सर्प फन फैलाता है
चढ़ो जिस तरह पावस-घन घिरकर आते हैं
गर्जन कर पाषाण हृदय तक दहलाते हैं !
आये अरि आने असत शौर्य सुरों का गुण था
शान्ति प्रेम न नहीं यह हुआ सर्वथा गुण था !"

उठ सभी अघ-पाप न छू न सका मन लग
भरा रौद्र रस प्रति-हृदय मानो लिये महेश !
चले सभी कर इष्ट को प्रेम-सहित प्रणिपात
जितने गुण उनमें भरे सभी निकसम बात !

गूँजे ही राग घर-घर में सुरासमाज
हँस-हँस निज पति-सुतों का सजाने लगी
वीर-वेश भूषा शिरस्त्राण वस्त्र-शस्त्र शान्ति
सम-स्नेह-सुसज्जित हुई सम्मान लगी !
परिघ प्रचण्ड असि बाण धनु तोम
शक्ति कर कर स्वच्छ सुर सजान-संवारने लगी !
वीर धर्म वीर कर्म वीर-गुण-गान गान
मान बलिदान की कथायें वा सुनाने लगी !

ग्राम-ग्राम में फिर गए, घर न यह सन्देश—
"रणभेरी रणार्थ रण-श्राम मन सब देश !"

देखते ही देखते विशाल इन्द्रपुरी-द्वार
बाँके रण-शूर सुर-सैनिकों से भर गए
बूढ़े युवा बाल बलहीन बलवान सभी
भाल रण-रंग रँगे भस्म से सँवर गए!
अश्व गज बाज पद-सैन्य का प्रवाह चला
भीड़ देख भीत वासुदेव भी ठहर गए
चम्पक चमेली कचनार कुन्द कलियों के
झुण्ड भरे मुख मानो भीति से उतर गए!

आगए सुरप भी हिमाभ्र श्वेत कुंजरों की
सैन्य लिए सैनिकों का साहस बढ़ाते हुए
सात सुण्डवाले ऐरावत-अम्बारी में से
मानो रौद्र रस की सुवृष्टि बरसाते हुए!
कूच चतुरंगिणी चमू ने कर दिया तब
व्यूह रच विविध पताकाएँ उड़ाते हुए
नील नभोदेश मध्य भालों की उठाए अनी
मानो दीप-शिखाओं की वीथियाँ बनाते हुए!

गूँज उठ क्षण में गगन गिरि-शृंग गुहा
जय घोषणाओं से मुखरित सुर-बालों की
भर गई भुवनों में शंखों की गंभीर ध्वनि
खड्गनाद-युत झनकार करवालों की।
क्रुद्धा सी भृकुटि-सम कुटिल कमानें लिए
क्रोधभरी गर्जना समर-मतवालों की
भूमि नभ वायु को कँपाने लगी इस भाँति—
मानो चमू चली हो प्रलय-घन-मालों की!

चा रहा था सैन्य या था जाम्हवी प्रवाह, घस्त
ही थे या वे तार तरंगों म नृत्य करते
गज थे या दौड़ आ रहे थ गिरि-समह रव
थे या तुरों के सदम प उड़ान भरते !
उमड़े थ नीर-क्षीर-निधि साथ-साथ या वे
मेद और विन्ध्याचल युग्म हो विचरते
मानो थ या ज्वालामुखी जिह्वा क समूह छिपे
धूम म असुर-सेना के सिर प फिरते ?

छाई धूम्र धीम गिरि, धूलों के महस्त होन
लगे और वैर दृष्टि के झमझमाने लगे
श्वास बन्द हो चला विपुल वृक्ष-श्रेणी का भी
धूम्र और भूमि मानो मिल मिल जाने लगे !
प्रातःकाल ही में सूर्य अस्त होगया चकोर
चन्द्रमा के लिए दृष्टि धूम्र में फिराने लगे
भ्रम भूले निशानाथ भी मराल-सैन्य लिए
फिर निज धाम पूर्व दिशा म बढ़ाने लग !

उधर अनन्त नगर-निज रम्य उपवन में
कया-सहित बैठा था मणिमय रत्नजटित आसन म
साम्य समीरण साम्य करों मे पुष्पों के परिमल से
मणिमय फुहारों की शीतलता से चन्द्रिका विमल से
शीतल और सुगन्धित बन दम्पति आनन्द बढ़ाता
इन्द्र था वा चन्द्र-रश्मियों के गुदगुदी लगाता !

जयन्त बैठा गृह-माता की बातें सुना रहा था
प्रातः कब किस विधि सुरपुर चलना यह बता रहा था !
बता रहा था कितने वाहन उसके साथ चलेंगे
कहाँ-कहाँ रुकना होगा सब कितने विषम लगेंगे !

कौन कौन से दर्शनीय स्थल वे पथ में देखेंगे
किस-किसके सम्मान्य अतिथि बनना स्वीकार करेंगे !

जया पड़ी-पड़ी शचि-स्वामि मुग्ध बार-बार
देख मानो चन्द्र को कुसुम दहरा रही थी
कभी करती थी पति से पसार कभी मूर्छ
मच्छरों के माधुर्य पर मुस्का रही थी !
दीप तल अधमुख पड़ते पतंगों पर
कर-कर दया शोक दैव का मना रही थी
कभी पुनः खोलती थी बिजन झलती थी कभी
कभी अँगड़ाई लेती मानो मचल रही थी !

ऐसा ही समय बीति मरे मीठम-सम मानो
इस रस राग में ही विष जीवन के लिए
देव-सभा प्रांगन सुरेन्द्र-पत्र लिए हुए
दूत आने के बाद सभी न समाचार दिए।
"यहीं बुलाना उसे कहा जयन्त ने सत्वर,
और दूत आ ही खड़ा हुआ शिर नत किए
पत्रिका से मौन पढ़ने लगा जयन्त जया
देखने लगी अवाक् विस्मयाभिभूत-हिय !

उधर लगा ज्यों ज्यों जयन्त सम्वाद पत्र के पढ़ने
त्यों-त्यों लगे भाव नव उसके मुख-मण्डल पर घिरने !
पढ़ते-पढ़ते अकस्मात् क्रमपूर्वक अरि का आना
तटस्थ सुर-धामों पर निर्दय अत्याचार मचाना !"
कभी क्षोभ से कभी घृणा से उसका मन भर जाता
कभी चढ़ाता भृकुटि कभी वह दसनों अधर दबाता !

देख देख यह जया-हृदय में उत्सुकता बढ़ती थी
रह-रहकर प्रश्नों की मन में आँधी-सी चलती थी !
किन्तु न होता था साहस कुछ जयन्त से कहने का
समझ रही थी निश्चय कुछ कारण है चुप रहने का !
इसी समय सुर-पति-नन्दन ने ऊँची दृष्टि उठाई
किन्तु न थी यह वह जिसमें थी शशि की हँसी मिलाई !

भरे हुए थे इसमें नूतन विविध भाव नूतन के
घृणा क्षोभ के भ्रमित लाभ के मन की उथल-पुथल के !
स्निग्ध भावना मुग्ध भावना हँसी हँसाने वाली
वह परिमल-सी दृष्टि हृदय-कलि को उमगाने वाली
सब वे ही थी फिर भी थी उसमें कुछ नूतन लाली
मधु के प्याले ज्यों रानी ने पी ली हो मन प्याली !

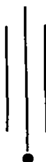
परन्तु फिर अभी कुछ जया का जयन्त न समझ पात
सुनकर जया-हृदय में भी ज्यों क्षोभ पवन था प्राण !
बाल-सूर्य-सम तमक उठा वह हँसित कमल-मुख क्षण में
दमक उठी मानो दामिनि हिम गिरि के शुचि आँगन में !
जयन्त ने फिर घर में सेना भी सब रति विधि जानी
और स्वयं सीधे समरांगण में जाने की ठानी !

उठे प्रश्नात्मक मनों में दोनों के कुछ भाव
किन्तु मिला को था कहाँ यह स्वीकार विभाव ?
वाणी-मत थिर हो रहे, यों दोनों इक साथ
शिथिल दृष्टि ही में दिया हो ज्यों युग इक बीत !

अन्त में साहस करके जया लगी कहने विनयम ही नाथ
आपने यह वीरोचित प्रण ठाना है रखली मेरी बात !
हो सदा आप जया का प्रण नाथ कृतकृत्य प्राप्त कर लाभ
करेंगे निश्चय यह प्रण सफल भक्त जन के रक्षक भगवान !
अन्यथा रहें आप निश्चिन्त जानती हूँ मैं भी निज धर्म
हाथ से लेगा पति-प्रतिशोध ग्रहण कर खड्ग धार रणधर्म !
सिखाता धर्म को कहता है न नारियाँ समर भूमि के लिए
भूमि जिनके उनके घर नहीं बिना अरि का हृद-शोणित पिए !
और यह न हो तो मुझे ज्ञात है वियामान्त अन्तिम धर्म
उधर विधि-विधि नाना पति मम हमारा है साधारण कर्म !
कौन है जो इच्छा विपरीत कर सके आज हमारा भंग ?
प्रेम के पथके रँग पर चढ़ा सके कृत्रिम जीवन का रंग ?
कण्ठ गद्गद् यह कहते हुए जया ने पति-पद किया प्रणाम
द्रवित हो जयन्त ने भी कहा "करेंगे सब शुभ सीता राम !

न चिन्ता करना कुछ भी प्रिये युद्ध में निश्चय होगी विजय
सत्य के सम्मुख कितनी देर ठहर सकता है निबल अनय !
अस्तु अब विदा करो आरती सजा है रथ भी भिन्न तैयार
निरन्तर शंख बजाते हुए, कर रहे हैं सैनिक हुंकार !
जया बोली "हाँ कीजे सिद्धि ! धन्यविदा !" फिर हँस किया प्रणाम
चला कह जयन्त भी गर्वित हृदय में भर यह मूर्ति ललाम !

द्वितीय सर्ग



असुर सैनिकों ने उधर था घूमा मैदान
कई प्रदेशों का किया मन भरकर हैरान !

प्रलय-वह्नि की तरह असुरदल फैल गया ग्रामों में
एक छोर से आग लगा दी सुखमय सुरग्रामों में !
देव-स्थान भ्रष्ट कर, धार्मिक ग्रंथ नष्ट कर ग्राम
उसने हुए बूढ़े से शिशु अरि-पशु तक नहीं विश्राम !

फिर तो भागे उनको तलवारों के घाट उतारा
गूंज उठा रुदन से सुर-सीमा का वह प्रान्तर सारा।

आग लगाई गई वनों में आया ज्वार प्रलय का
आर्त जनों के लिए कहीं रह गया न ठौर आश्रय का !

जलचर, नभचर तक थे भिन्न-भिन्न प्राण चतुर्दिक भागे
विकल श्रान्त शिशु, जननाओं ने गिरि, वन तरु तक त्यागे !

वन-वन दावानल बढ़ी छाया क्षिति पर आई
नभ शून्य में अग्नि नृत्य करते नक्षत्र-विलास !

क्रोध के उफान महाप्रलय-विमान सम
धूम्र-दल घिरे नभ शून्य मध्य छाने लगे
तमस बढ़ाते घन-घटाएँ-सी छाते
दृष्टि निष्क्रिय बनाते और विपत्ति बढ़ाने लगे !
भीत सभी प्राणी अन्ध-जैसे भ्रम भूल ज्वाला
ही की ओर घूम-घूम भागे-दौड़े जाने लगे
और दुष्टता के साथ वसु देख-देख यह
अट्टहास द्वारा भूमि-व्योम को गुंजाने लगे !

मचा हाहाकार, रहा दुखों का न पार,
गृह जन उपवन वन क्षार के ढेर गए;
श्रम के पयोद पुंज सभा के विनोद थे जो
आज था ज्यूँकि धीर शोक-पुंज बन गए !
खेलते थे सौम्य शिशु मध्य अरविंद-सम
बस वन आग में ही अन्ध सिंधु-जल गए;
करते थे कुसुम की स्निग्ध प्रभा को भी दव
न हो आज दग्ध वन भीति के भवन गए !

अस्तु शीघ्र तट पर असुरों ने शोणित-धार बहाई;
जिधर गए उस ओर नाश की आँधी प्रबल उठाई।
कौन कहे कितने उस दिन बरबस सो गए सदा को
कितनों के कर, पद, रद कुल-दीपक खो गए सदा को!
कितनों ने स्वेच्छा ही से यह आँख-मिचौनी छोड़ी
जीवन-डोर तोड़ इस जग से गगन-दिशा से जोड़ी!

कौन कहे यह आग सभी की सुर ग्रामों-कुलों में
या सुरगण-हृदयों में दहित तीव्र आग-पुंजों में!
इन निर्दय वारों ने या कतिपय को विवश भुलाया
अथवा सारे स्वर्ग राष्ट्र को भारी रोष जगाया!
कौन कहे यह बुझी लगी या कुछ ही की आँखों में
या उसने धधका दी थी यह प्रलय-ज्वाल साँसों में!

असुर कह रहे थे हँस-हँस "क्या शुभ अवसर आया है
कैसे बिना हानि ही हमने स्वर्ग राज्य पाया है!
अब सुरगण का साहस क्या जो हमसे युद्ध करेंगे
अभी धाक बाकी क्या हम असुरों से लोहा लेंगे!
किन्तु पता था किसे विधाता को क्या हानि प्यारी है
भविष्य-पट के पीछे किस अभिनय की तैयारी है!

अस्तु सैन्य सब सायंसमय जब उपस्थ सर-तट आए,
सर-तट के सुन्दर उपवन की छटा देख ललचाए।
असुर राज ने भी आज्ञा दी "यहीं पड़ाव लगाया"
आज इसी उपवन में सब सेना के शिविर तनाया।
फिर क्या था सुर-वन में अरि की ध्वजा लगी फहराने
लगे असुरगण नगर रूप में शिविर विशाल तनाने।

इसी समय कुछ गुप्तचरों ने आ सम्वाद सुनाए—
'भीति-ग्रस्त सुर भाग रहे हैं डेरा-डांड उठाए।
सात-सात योजन तक सुर-सेना का पता नहीं है
खबर आक्रमण की भी पहुँची केवल कहीं-कहीं है।
सुर-सैनिक जितने थे प्रायः हैं सब मार गिराए
और पड़े हैं बन्दी-गृह में थोड़े बचे-बचाए।

पहुँचे हैं न अभी तक तो सुरपुर सम्वाद हमारे
फिर भी बिठा दिए हैं सारे नाकों पर हरकारे।
फिर क्या था निश्चिन्त भाव ने निज प्रभाव फैलाया
नृत्य गान ने मद्य-पान ने मनभर रंग जमाया।
कहीं हास्य के कहीं गान के लगे फुहारे छूटने
कहीं कवित्व के कहीं प्रकृति के लगे खजाने लुटने।

उस ओर असुरपति भी भरकर विजयाभिमान में मुसकाता
निज रत्न-खचित सुन्दर वितान में आकर बैठ इठलाता।
सेनापति गण आ सबै दिवस भर के सारे वृत्त बतलाते
भिन्न-भिन्न दल की कृतियों को रँग रँग विविध रंगों में दिखलाते।

'सब बल सुरदल ही दोषी थे और असुर निर्दोष
किया सुरों ने ही आक्रम था असुर-दलों का रोष।
धाम-धाम में युद्ध हुआ फिर असुरों ने जय पाई
और पराजित सुरगण पर दैत्योचित दया दिखाई।
दैत्योचित मृदु हास्य सहित सब लगा असुरपति सुनने
प्रसन्न-मेघ ज्यों नष्ट हुआ जा लगा मुदित हो गिनने।

सुन सब बातें फिर दनुजपतियों का उत्साह बढ़ाता
उनकी कृतियों पर हर्षित हो प्रसन्नता दिखलाता
बोला "जाओ सो विश्रान्ति मनभर आनन्द मनाओ
जिस सैनिक को जो आवश्यकता हो वह बतलाओ।
प्रात उषा-काल में है सुरपुर को कूच कराना
और इन्द्र के नन्दन वन में ही है शिविर बनाना।

सुन दनुजाधिपगण खड़े हो कर सस्नेह प्रणाम
गए निज निज शिविर, करने को विश्राम।

किन्तु भाग्य की बात कहाँ भी हुई न मन की चाही
जा पहुँचे देवर्षिपुरी में लौटे हुए सिपाही।
उनका दलपति मुख्य गया था अपनी कथा सुनाने
एक-एक कर दिनभर की सब घटनाएँ गिनवाने।
बैठ गया असुरप भी वहीं निज आसन बिछवाकर
और लगा सुनने चित देकर उनकी कथा सविस्तर।

लगा सुनाने दलपति भी सुर असुर-युद्ध की बातें
कहाँ-कहाँ किस-किस विधि उनकी सफल हुई थी घातें।
किस प्रकार असुरों ने सुर-गृह भस्म किए थे लूटे
किस प्रकार किस-किस थल के थे सुरगण मारके छूटे।
सुन असुराधिप मुख पर भी प्रसन्नता सी छाई
एवं दलपति-दिशा हर्षित मुख उसने दृष्टि उठाई।

किन्तु इसी क्षण युद्ध की एक बात की याद
आने से मन हो गया दलपति का नाशाद।

इसी समय कुछ गुप्तचरों ने आ सम्वाद सुनाए—
"भीति-ग्रस्त सुर भाग रहे हैं डेरा-डांडा उठाए।
सात-सात योजन तक सुर-सेना का पता नहीं है
नगर आक्रमण की भी पहुँची केवल कहीं-कहीं है!
सुर-सैनिक जितने थे प्रायः हैं सब मार गिराए;
और पड़े हैं बन्दी-गृह में थोड़े बचे-बचाए!

पहुँचे हैं न अभी तक तो सुरपुर सम्वाद हमारे,
फिर भी बिठा दिए हैं सारे नाकों पर हरकारे।
फिर क्या था निश्चिन्त भाव से निज प्रमोद फैलाया
नृत्य-गान ने मद्य-पान ने मनभर रंग जमाया!
कहीं हास्य के कहीं गान के लगे फुहारे छूटने
कहीं करुणि के कहीं कुरुचि के लगे खजाने लुटने!

उस ओर असुरपति भी भरकर विजयाभिमान में मुसकाता
निज रत्न-खचित सुन्दर वितान में आकर बैठा इठलाता
सेनापति गण आ सबने दिवस भर के सारे वृत्त बतलाने
भिन्न-भिन्न दल की कृतियों को रँग रँग विविध रँगों में दिखलाने

'सब बस सुरगण ही दोषी थे और असुर निर्दोष
किया सुरों ने ही जागृत था असुर-दलों का रोष!
ग्राम-ग्राम में युद्ध हुआ फिर असुरों ने जय पाई
और पराजित सुरगण पर दैवोचित दया दिखाई!"
वैतालिक मृदु हास्य सहित सब सभा असुरपति सुनते
प्रथम-मेघ ज्यों भरे हृदों का सभा मुदित हो जिनसे.

सुन सब बातें फिर दलपतियों का उत्साह बढ़ाता
उनकी कृतियों पर हर्षित हो प्रसन्नता दिखलाता
बोला 'जाओ लो विश्रान्ति सब भर आनन्द मनाओ
जिस सैनिक को जो आवश्यकता हो वह दिलवाओ।
प्रातः उषा-काल में है सुरपुर को कूच कराना
और इन्द्र के नन्दन वन में ही है शिविर जमाना।

सुन दलपतिगण गये हो कर सस्नेह प्रणाम
गए बिदा ले निज शिविर, करने का विश्राम।

किन्तु भाग्य की बात वहाँ भी हुई न मन की चाही
था पहुँचा दैत्यपुरी में लौटे हुए सिपाही।
उनका दलपति तुरत सभा मा सभी कथा सुनाने
एक-एक कर दिनभर की सब घटनाएँ दिखलाने।
बैठ गया असुरप भी वहीं निज आसन बिछवाकर
और सभा सुनने चित देकर उसकी कथा सविस्तर।

लगा सुनाने दलपति भी सुर असुर-युद्ध की बातें
कहाँ-कहाँ किस-किस विधि उनकी सफल हुई थी घातें।
किस प्रकार असुरों ने सुर-दल भग्न किया औ लूटे
किस प्रकार किस-किस पर कैसे सुरप मारकर टूटे।
सुन असुराधिप मुख पर भी प्रसन्नता था छाई
गर्व दलाधिप-निन्दा हर्षित मुख उसने दृष्टि उठाई।

किन्तु इसी दम युद्ध की एक बात की याद
आते ही मन हो गया दलपति का सविषाद।

कम्पित स्वर-पद नत-नयन म्लानीगत हत-काम
खड़ा रह गया वह धवल प्रस्तर-मूर्ति समान !

देख असुरपति ने भी पूछा कारण घबराने का
कहा 'कहो क्या काम नहीं है इस क्षण भय खाने का !
रण है, जहाँ साम्य बातों में अरि परास्त होते हैं
वहाँ क्वचित निश्चय ही हम भी निज सैनिक खोते हैं !"

दलपति आश्वासित हो बोला "देव युद्ध में सारे;
एक स्थान पर ही हैं असुरों के सेनानी हारे !
है उसका भी स्वामी मेरा सहचर ही वृषदन्त
जिसकी कीर्ति-प्रभा से पूरित हैं आसमर्त्य दिगन्त !

सुन आवेग और आश्चर्य से मानो अस्थिर होकर
क्षणभर देख चमूपति का मुख फिर निज धैर्य सँजोकर
कहने लगा असुरपति 'क्या दलपति यह भी है संभव ?
कि है हुआ वृषदन्त सैन्य का ऐसी जगह पराभव ?
नियमित युद्ध न था यह था निःशस्त्र सुरों से लड़ना
निर्भय गृह-ग्रामों में रत ग्रामीणों पर जा पड़ना।"

दलपति बोला "देव एक था इसका हेतु विशेष
भेजा गया उसे था करने जय देवर्षि प्रदेश !

किन्तु हैं लोग वहाँ कृषक मानव दंभ के तथा साहसी वीर;
यतः च यद्यपि वहाँ न दुर्ग न गिरि, वन न ही सुदृढ़ प्राचीर
तदपि बालाएँ बालक वृद्ध युवा—सब करने को क्षत डटे
खोप-पर-खोप पड़ गई किन्तु न पीछे तिल भर भी वे हटे !

चाल थी फिर इस रण में एक अभुत-पूर्व अद्भुत और नवीन
वार वे हम पर करते थे न और तजते थे निज हठ भी न !

बहुत समझाया मत बन मूर्ख करो निज धन-जन का बलिदान
अस्त्र लेकर या तो रण करो या करो असुरराज का सम्मान !
किन्तु बोले वे 'प्राणीमात्र हमारे तो हैं बन्धु-समान !
किस तरह कर सकते हैं भला हम किसीके प्राणों की हानि ?
हो न झुकना अनीति से कभी सत्य पर दृढ़ रह देना प्राण
हमारा है प्रधानतम धर्म धर्म पर हो जाना म्रियमाण !

अतः है विजय हमारी यही कि जीवित रहते तजें न धर्म
मनावें अभिमानों से व्यर्थ तुम्हारा पशुबल भीषण-कर्म !
चाहते नहीं धीर के उचित स्वत्व पर करना हम अधिकार
किन्तु तजते जो अपने स्वत्व भी नहीं जो सकते आचार !
वह सभी पथ से या हट गए, न की मरने की कुछ परवाह
सैकड़ों काट गिराए गए, तदपि उनका न घटा उत्साह !

दृश्य था वास्तव में वह अहो बड़ा ही करुणापूर्ण विचित्र
देखकर हो जाता था उसे पाप तक मानो स्वयं पवित्र !
सुमन से मृदुल तनों में वज्र-सदृश वह दृढ़ता साहस शक्ति
सत्य पर, विश्व प्रेम पर अग्नि अतुल निर्मल हिमगिरि सम भक्ति !
प्राण अवयवों तक में एक महा ध्वनि होने का उल्लास
मृत्यु-शय्या पर भी मग्न-पूर्ण-मुखों पर वही मधुमय हास !

एक के गिरते ही तत्काल दूसरे आ जाता वहीं
देख जाती थी हिंसा और क्रूरता सभी न जाने कहीं ?

कौन था फिर जो उनपर हाथ छोड़ता बना हृदय पाषाण ?
इसीसे दयार्द्र होकर रोक लिए वृत्रदन्त ने धनुष-बाण !
अन्य सैनिक भी करने लगे मारने से उनको इन्कार
अतः पीछे हट आना पड़ा, सभीको उस क्षण से लाचार !"

पर असुरपति को पुन यह कथा दया के स्थल पर आया क्रोध
स्वार्थ प्रिय को भाता है कहाँ उचित अनुचित का भेद प्रबोध !
क्रूर के लिए प्रेम है मोह दया कायरता क्षमा अनीति
शरण-सम्मुख झुकना अज्ञान सरलता मूर्ख जनों की रीति ।
जानता फिर वह किस विधि सुरप-कथित वृत्रदन्त-गुणों का मोल ?
तुला ही न थी वहाँ वह बुद्धि सत्य को जिस पर सकती तोल !

साथ ही था इस कृति को उचित मानना करना यह स्वीकार
कि उसकी जय तो है ही अजय यह समर भी है अत्याचार ।
और यदि असुर भूप निज तुरत इस तरह से करले स्वीकार
तो सुजन एवं दुर्जन मध्य भेद ही क्या पाए संसार ?
अत वह बोला "बस-बस ! बहुत हो चुका कायरता-गुण-गान
जान पड़ता है इस षड्यन्त्र मध्य हो तुम भी लिप्त समान ।

और अब इसीलिए वृत्रदन्त की अराजकता को दे रंग
चाहते हो रचना कुछ उसे बचा लेने का नूतन ढंग !
उपस्थित करो इसी क्षण उसे हमारे सम्मुख लाकर यहीं
उपेक्षा की जा सकती कभी इस तरह के बोलों की नहीं !"
सुरप सुन उदास होकर उठा और मन चिन्ता करता हुआ
मित्र के अनिष्ट का कर ध्यान कल्पना में भी डरता हुआ

गया, तब आकर पुत्रान्त में कहा असुर-वचन का सार
किन्तु वह तो बैठा था प्रथम ही हुआ मरने को तयार!
धाव के हर्षों का था हुआ हृदय पर उसके प्रबल प्रभाव
हो रहा था मानो उद्भ्रान्त भूल वह अपना सरल स्वभाव।
जानता था फिर वह है कठिन असुर से पाना न्याय उदार
अतः बोला "तो भय क्यों? कहो किया ही है क्या मैंने रार?

जान जब गया मैं कि तुम धर्म मान हो भूल कर रहे पार
धर्म ही था तब मेरा तुरत भूमि पर रख देना हार धाप!
कहो सब कहने में क्या भीति? करेगा क्या वह मेरा प्राण?
सत्य पर मरना भी है श्रेष्ठ, पाप करके पाने से त्राण!
किए हैं जितने ही दुष्कृत्य साथ मम उसके दम्भ-निमित्त
धाव है करना मुझको उचित प्रथम हो उनका प्रायश्चित्त

देश काज यदि स्वार्थ पर देते थे हम जान
तो देते हैं धर्म पर भी हँसकर ही प्राण!
थे न स्वार्थ-प्रिय इसलिए हम कि कठिन था मरण,
प्रत्युत् हम थे सत्य से सब ओर अपभूरण!

फिर बोला "अब तक त्रुटि कर भी इतना है सन्तोष
कि है किया न जानते पर मैंने फिर कोई दोष!
करता रहा हूँ मैं नित्य विचारों के ही अनुसार
जब भी भूल जान पाया तब ही कर लिया सुधार!"

गुरुव सोचने लगा "सत्य में भी है कमी शान्ति?
शान्ति-प्रदायक समझना सबसा है मानव की भ्रान्ति!

जहाँ पापियों को मिलता है सब कर्मों के फल का
वहाँ-सत्य प्रेमी को होता है विश्वास सुफल का !"

सुरप संग वृषदन्त असुरपति-सम्मुख आया
देख जिसे असुराधिप ने भी शीश उठाया !
किन्तु हुआ यह चकित देख वृषदन्त मुखाकृति
टपक रही थी जिससे निर्भयता अविचल धृति !

उसके मुख पर बिन्दु भी न था ताप-परिताप का
बैठा था वह सिंह-सम ले आश्रय निज आप का ।

अस्तु असुरपति ने पूछा उससे कटु स्वर में—
"कहो किस तरह हुए पराजित आज समर में ?
क्या बचाव करते हो तुम निज कायरता का ?
सुरगण के सम्मुख दिखलाई पामरता का ?

अपमानों में हारने क्या लज्जा पाई' नहीं ?
यदि हारे तो क्यों नहीं हीनता आई नहीं ?"

पर बोला वृषदन्त "मुझे भय है न ताप है
न ही किया मैंने कोई अक्षम्य पाप है !
नहीं पराजय पाई है मैंने पशु-बल से
न ही हार पाई है अरि के छल-कौशल से !

हारा हूँ तो सत्य से जो आत्मा का पर्व है
और मुझे इस हार पर प्रसन्नता है गर्व है !

सुन हिरण्यकश्यप सभ्रम कहने लगा कठोर—
'हारने पर भी गर्व है होने का विभोर ?

इसका तो यह अर्थ है कि है भीति वीरता
और घृणित कायरता का है नाम धीरता!
निश्चय तू धृष्टद्युम्न आज हो रहा भ्रमित है
या हो बैठा किसी मंत्रवश ज्ञान-रहित है।"
ऐसा न हो कि यह तुझे बिना मृत्यु ही मार दे
अतः भला हो भूल यह यदि तू यहीं सुधार ले!

पर बोला धृष्टद्युम्न है यह अनुचित अनुमान
न तो भ्रमित है चित्त मम न है हृदय अज्ञान!

बात यह थी कि वीरता में छिपा आज तक
भीरुता का भूत मेरी बुद्धि को भ्रमाए था
और मम रूप पर धूम-स्वार्थ क्रूरतादि—
का पयोद मेरे ज्ञान-सूर्य को छिपाए था!
मोह अभिमान और लोभ का अँधौटा मुझे
अन्ध बना अनाचार पाश में फँसाए था
सत्य को असत्य पाप प्रेम को दया को दोष
दिखाने का मंत्र मुझे विमुख बनाए था।
किन्तु आज देख दिव्य शक्तियों की भक्ति-व्यक्ति,
असीम करुण बोलने के अपमानों को
शत्रु में भी मित्र और प्यार में पवित्र भाव
देख देख आने वाले दिव्य बलिदानों को!
सुन-सुन वीरता सुधीरता गंभीरता के
सत्य प्रेम भरे नाम वीरों के वचनों को
टूट माया के बन्ध छूटे हैं छलों के फन्द
देख लिया मैंने है दनुजों की गलतानों को!

आज जान पाया वीर-धर्म का रहस्य है मैं
आज जाना है कि युद्ध धर्म नहीं पाप है
घात प्रतिघात रक्तपात नहीं धैर्य मात्र
मुक्त रहना ही वीरता का ठीक माप है।
और स्वार्थ या अधर्म-पक्ष के सिपाही बन
रक्त बहाना तो नर्क का कृति-कलाप है
ऐसी क्रूर शक्ति का समूह वरदान नहीं
विश्व के लिए विशुद्ध देवों का शाप है।

सुन अनुरोध हो अधीर बोल उठा "बस
बुद्धिहीन बन्द कर व्यर्थ बकवाद को
व्यर्थ है प्रयत्न विपरीत विज्ञता से ढँक
सकता नहीं तू राजद्रोह अपवाद को!
बोला कृष्णा "राजद्रोह नहीं पाप द्रोह
है यह द्रोह नहीं है चुनौती बकवाद को
मैं न मान लूँगा अब मान की प्रतीति मात्र
व्यर्थ है बढ़ाना उन्मादित विवाद को!

नहीं विजय है यह पशुबल की केवल भौतिक तन पर
जिसका कभी स्वतंत्र हो फिर चुन जाता है रण पर!
वह केवल अभिशाप रूप को उत्पन्न देती है
शान्ति सदा के लिए सुमन-दलों की हर लेती है!
और न चिन्ह है मेरा विजय स्वार्थ-भित्ति भ्रम भव पर
सृष्टि जिसका मूर्ति शान्ति सजनी हो विजय धरा पर!

सत्य, प्रेम की विजय जमाती है मन पर अधिकार
काट नहीं सकते जिसके बन्धन को कुमति-कुठार!

सुन यह आग लग गई मानो असुरराज के तन में
बोला 'अभी तुझे दो टुकड़े करता हूँ मैं क्षण में!
है कुछ ज्ञान सामने जिसके बातें बना रहा है?
किसको अपने अधम मत की गाथा सुना रहा है?

किन्तु हुआ दुरन्त पर न इस धमकी का परिणाम
कहने लगा उसी निर्भयता से वह भक्ति धर-धाम।

'मुझे ज्ञात है असुर राज के सम्मुख बोल रहा हूँ
और उन्हीं की कुटिल नीति का पर्दा खोल रहा हूँ!
पर सैनिक हूँ, है आता मुझको निर्भय हो मरना
निज विश्वास-धर्म-नेमों पर मन-प्रन अविरुद्ध धरना!
क्या है, मैंने निज धर्म है क्या नहीं स्वधर्म
कर सकता मैं नहीं भौतिकता कोई अनुचित कर्म!

हूँ सैनिक मैं बना तुम्हारा हित रक्षा करने को
प्रजा-राज्य धर्मों की रक्षा में सहन-मरन को!
किन्तु निरस्त्रों की हत्या कर, गृह-जन-हेतु जमाना
अबलाओं शिशुओं वृद्धों पर पशु-सम त्रास जमाना
शान्त प्रजा का लूट-नीतिवर परवश-विवश बनाना
स्वतन्त्र भावों का दमन कर जग के कष्ट बढ़ाना

अपना प्रजा विरागी नृप का मद में हाथ बटाना
एक धर्मनिष्ठ की हत्या उन्माद में नित ठनना

प्रश्न यह है कि धर्म-विपरीत आचरण जो है क्या तुम साम्य ?
और क्या है सैनिक-कर्तव्य धर्म रक्षा जब रहे न साम्य ?"

फिर प्रमुख सेनापति से कहा 'आपका भी है क्या मत यही ?
किन्तु दलपति बोला सक्रोध "कभी दूंगा मैं यह मति नहीं ।
नीति-च्युत कृतघ्न नृप के लिये धर्म को करने से बलिदान
श्रेष्ठ समझूंगा सिंह समान तुम्हारा मैं दे देना प्राण ।

मित्र के लिये मित्र की कीर्ति मित्र से भी है प्यारी अधिक ।
सिखाए मित्र को अकर्तव्य पाप वह मित्र नहीं है वधिक ।"

नृप भौरों की स्थिति फिर कहा "आयु भर के सारे उपकार
क्षणिक सी त्रुटि पर यदि हैं क्या किये जा सकते सत्य में क्षार ।
तो मरें हम सब किसके पर्व त्याग यह पायेगा किस काम ?
क्यों न इस त्रुटि को हम भी मित्र यहीं से अन्तिम करें प्रणाम ?"

किन्तु युवराज ने कहा "इस मामला में तो त्रुटि भी नहीं
धर्म है पन का पालन भी भूल सुधारे जहाँ भाव हो वहीं ।
हो न था मेरा कर्तव्य कि मैं जा लेता यदि था पता
छोड़ता अनुशासन का भाव न रखता अपने गुप्ति सतत ।

फिर न था यह समझाया क्या प्रथम पग लेना था भी कभी
कि अपने हृदय से मत जायें, कर रहे हैं जो हम सब सभी ।"
प्रमुख सेनापति बोला "है किन्तु सोचने का न यह कहाँ ?
न्याय गुणियार, धर्म है सभी साथ तो धर्म के साथिन यहाँ ।

हा, नौकर से तुच्छ है किस जन का व्यापार ?
एक चूक से चूर हों जिसके सब उपकार ?

जिसके सब उपकार, पाप भी हो करता ही
पापात्मा के विरोध में भी हो डरता ही।
'पथिक' भले ही उदर पाप लाकर भर लीजे
पर मनुष्य हो दास न नौकरी पर भी कीजे !

फिर कहा 'क्यों हम भी मिल सभी करें असुरेश का न आचार
मानव को मालिक के प्रति स्वधर्माचरण के अधिकार ?
नहीं मिलता है राज से न्याय बिना दिखलाए अपनी शक्ति ?
धर्म का क्या जानें वे ध्येय सदा से है जिनका धन भक्ति ?

अनीतिकरण है साधु के अर्थ गर्ह्य व्यवहार
किन्तु शस्त्रों मे शक्ति ही पाती है विस्तार।"

सुरस का देख समर-उन्माद और भी सब हो गए तयार
क्यों न साथ न होता कौन सुयश उपहार मित्र को मार ?
अन्त में सबने जा असुरेश से कहा "कीजे पुनर्विचार
अन्यथा हम सबका भी त्याग-पत्र अब कर लीजे स्वीकार !
हमारी मति में भी है नहीं किसी का जग में यह अधिकार
कि ऐसी अनुचित पूर्ति के लिए करे वह मालिक को लाचार !
न्याय पर अब है उसने किया साधु का मेल रंच भी नहीं
और है धर्म-कर्म न रखना हानि भी उसकी दृष्टि में कहीं !
नहीं है यह नाराज्य धर्म युद्ध है प्रभु किया व्यापार
और उसमें रहना स्वार्थान्ध है मनुज का निश्चित अधिकार !
इसलिए कि नियम अनुसार नहीं है यह न्यायपर युद्ध
न दी है इसकी सभी बड़ी कभी जा सकती युद्ध विरुद्ध !"

श्रवण कर असुरराज की बुद्धि ठिकाने हुई और गत क्रोध
लगा कहने वह हो कुछ नम्र उसी को देता हुआ प्रबोध :

'नहीं था मेरा भाव कदापि कि मारा ही जाए वृषदन्त
किन्तु इतना भय था अनिवार्य इस अपमति का करने को अन्त !
क्षमा करता हूँ मैं अब उसे पर चला जाय वह इसी मान
अन्य कोई अपराधि या वन्य सके इस विषय में न कुछ जान !"

चमूपति बोले हो कृतकृत्य "सहीं प्रभु ! सब विधि से निश्चिन्त
आपकी उदारता ने स्वतः कर दिया है अशान्ति का अन्त !

आज्ञा के अनुसार ही होंगे सारे काम !
हुए विदा कह चमूपति कर-कर पुनः प्रणाम !

वृषदन्त ने भी गजेन्द्र-भुज नृप को किया प्रणाम
तथा कहा "फिर भी यदि मेरे योग्य कभी कुछ काम
हो तो निस्संकोच स्मरण करियेगा मैं आऊँगा
एवं वह सेवा कर सचमुच अतिशय सुख पाऊँगा !
मुझे नहीं है दर्प प्रगम का यह स्वधर्म का स्वामी
वैसे समझें सदा आप मुझको वह ही अनुगामी !"

असुर देख वृषदन्त वीर का यह उदार व्यवहार
एवं कर स्मरण निज कृत अपकृति उसके उपकार
कुछ लज्जित हो नम्र हुआ एवं सुस्नेह दिखाकर
विदा किया वृषदन्त वीरवर को दे समुचित आदर ।

●

तृतीय सर्ग

इन्द्रपुरी मध्य आज था प्रचण्ड राज्य भीति
चिन्तना का मानो वे ही वृन्द-वृन्द छा रही थीं
देखो जिसे मार्ग उसही की जानने का प्रिय
भ्रात-मित्र-समाचार मानो पहुँचा रही थी।
जितनी ही बाला किसी पथिक को पास देख
दौड़ी उसही से कुछ पूछने को जा रही थी
जितनी ही वृद्ध गिरि-शिखर, अटारियों के
शीश चढ़ी चारों ओर दृष्टि भटका रही थी।

ज्यों-ज्यों दिन बढ़ता था त्यों-त्यों आकुलता बढ़ती थी
रह रह आशा पर आशङ्काओं की रज पड़ती थी।
उधर ग्रीष्म की भीष्म उष्णता प्रखर जलाती तन थी
भीतर-बाहर जहाँ देखिए, केवल जलन-जलन थी।

जल प्रपात भी आज नहीं मानो "सारंग" गाते थे
सलिल-पथ भी छत मेघों से आँसू बरसाते थे

इसी भाँति पल्लव-पल्लव में था सब सुर-पुर सूना
आज कदाचित ही था कोई हृदय-कमल तो फूला!
दिन था किन्तु किसीके भी उर का न कहीं दिनकर था
था कैलाश उमा थी किन्तु कहाँ अमल शशिधर था!

हृदय नहीं थे आज निराशा-आशा के रण-थल थे
मूर्तिमान चिन्तन उदासी के अस्थिर अंचल थे!

अन्त में सहसा संध्या-समय सुना यह सब ही ने साह्लाद
कि सुरपति-प्रेषित कोई दूत अभी लाया है कुछ सम्वाद!
मच गई तब घर घर में धूम छोड़कर सबही निज-निज काम
पढ़ न ले कोई कुसमदीप स्मरण करती कोई हरिनाम
लगाकर भाई गृह के द्वार, भ्रान्ति-धारा में बहती हुई,
वधू ना कोई नीर स्वभावें सजन रहने को कहती हुई
चली तब सभी सदन की ओर, बना भिन्न-भिन्न तन्वियों के गुल्म
कर रहे हों ज्यों मरु-थल पार हरित तरु-वल्लरियों के गुल्म!
छोटी विविध मयूरी तथा अनेकों मनामयिक कुसमंग
दिखाती नन्दन-वन के सुमन-कुंज की भाँति विविध रँग-रंग
सभी पहुँची सुरपति के सदन शची ने सबको आदर दिया
सान्त्वना दे दे सदन बैठ पत्र सुनने का आग्रह किया।
सुनाया गया पत्र थे लेख अमित था था सुरदल में मिले
सभी सुर सोत्साह परि-दिशा बढ़ जाने पे निर्भय चले।
दिया शचीन्द्र ने अनुरोध किन्तु था किसीने न स्वीकार
ठहरना था ऐसा विचार न हो जब तक अरि-सीमा पार।

प्रस्थान विजय

विजय का है पूरा विश्वास, न कोई कुछ चिन्ता मन करें,
न ही अ.त-मिलित हीन सम्वाद किसीके मुख से सुनकर डरें।
पत्र भवन कर समीपे पाई किञ्चित शान्ति
मिटी बहुत-कुछ व्यर्थ की चिन्ताओं की भ्रान्ति।
सभी थी स्वयं चिन्ताक्रान्त किन्तु वीरों को देती स्थैर्य
बताने लगी कि किस विधि उन्हें उचित है रखना निश्चय धैर्य।
किस तरह उनका साहस और सुरों का देना दुगुनी शक्ति,
करेगी प्रिय रक्षा किस भाँति समर में उनकी सच्ची भक्ति।
मन्त्र में साहस-गण यथार्थ योजनाएँ बतलाकर सम्य-
बताया फिर था उनका स्वयम् इस दिशा में क्या शुचि कर्तव्य।
इसी विधि कर अनेक आलाप गई कितनी ही भिन्न-भिन्न याम
किन्तु कितनी ही लेटी हो न थी पुन: पर आने का नाम।
प्रतिक्षण देख रही थी राह कि आती है कुछ नूतन बात
और आएँ भी क्यों? किसलिए? काटती था भी जपकर रात।
किस था गहरी सी सुख-नींद लिए छाती पर इतना भार?
कौन रह सकता था निश्चिन्त हृदय में रख यह मारामार?

इसी क्षण राजमार्ग पार रथ चक्र धार
कान पड़ी और जाम-जुते अश्व हिनहिनाए
बस फिर क्या था जाग पड़ी सारी स्मृति नाना
सुन वन-देवी के पयोद रव सुन पाए।
ध्यान मग्न और वृन्द तत्क्षण उठ उठ
घूम गयी मंगि भाव सभी भवनों को पाए
बादलों के शान्त रही सुना सुनो द्वार इधर
निर्जीव मुझे भी नहीं कोई ध्यान न म मान।

आगे रथ पीछे चली उत्सुक भीड़ अपार
क्षण में आ पहुँचे सभी इन्द्र-भवन के द्वार।

शची ने भी हार लिया ज्यों ही रथ घोर सुनी
त्यों ही उल्लास साथ उठी और द्वार दिशा चली
पुष्पकों की भीड़ से भी मानो सम गुणाधिक
विह्वलता की भीड़ महिषी के चित्त आ लगी।
काम इतने में किसीसे कि आया है जयन्त
एक नव आशा-ज्योति हृदय शची के जगी
करने लगा विलास हास्य अधरों में और
आगे बढ़ी रानी भाव भरी प्रेम भाव में पगी।

किन्तु द्वार में जयन्त ने नहीं जाना ने मातु
को सिर झुकाते हुए प्रेम से चरण छुए;
इन्द्र भामिनी ने भी जया ही को जयन्त मान
गले से लगाया प्रेम अश्रु बरसाते हुए।
लता-सी लिपट दोनों स्थिर हो रहीं क्षणेक
मानो कुमुदिनि-जाल में कमल खिल गए,
या प्रथम जाह्नवी की मृदु हरि पैड़ियों में
पौर्णिमा मयङ्क हो निमग्न चित्त धँस रहे!

परन्तु हर्म्य में आ सब बैठीं छिड़ी कथा फिर घर की
जयन्त के रणभूमि-दिशा जाने के शुभ-अवसर की।
क्रमशः एक-एक कर, सारी स्वसुर-गृह पाने की
रागिनु गद्गद, पुत्रियों के पति के संग जाने की
[illegible], किस विधि की सेना भी जया रथ क्यों आई ?
सारी कहानी प्रथम जया ने सविस्तार समझाई।

फिर सुर-महिषी ने सुरपुर के सारे वृत्त सुनाए,
वर्तमान तक रण-स्थल से आए पत्र दिखाए।
तथा सुरों की अमान्त बाधा के वृत पढ़ घबराई
कहने लगी "धूप में ऐसी दिन भर तपी-तपाई

क्षुधित श्रान्त सेना का रिपु से कहीं युद्ध छिड़ जाए;
तब तो जगदीश्वर ही सुर-सेना की लाज बचाए।'

बस इतना था बहुत सभा में चिन्ता फैलाने को
समालोचकों का सविवेचन प्रतिभा दिखलाने को!
सुने अन्य प्रतिवादियों के तथा पनपने वाद
होने लगी भविष्यवाणियां दूर बसे विश्वास!

देख सभा की त्रुटि का यह क्रम सुर-महिषी हो चिन्तित
लगने लगी यत्न करने का इस संघर्ष का प्रशमित!

स्वामी बोले! रुक न चिन्तित हो इन घटनाओं से
सुर-गण हैं पर्याप्त योग्य लड़ने में बाधाओं से!
फिर हैं सुर-गुरु और तुम्हारे श्वसुर साथ सुरदल के
असुर शक्ति हृत काम न वैसी सम्मुख उनके बल के!

न्याय-पक्ष है शुचि सुरों का पाप-पक्ष असुरों का
इस समर में विजयी होगा निश्चय पक्ष सुरों का।"

फिर शासन-सेवा प्रसंग से अन्य व्यवस्था सारी
तथा उमा ने पूछा "बेटी क्या है साध तुम्हारी?"
उमा मुदित हो बोली, "ऐसा सपना है, इससे बढ़कर,
कौन चाह भूतल पर सुरकामायी को पाकर?

यदि माधुरी आज्ञा दें, मैं स्वयं साथ जाऊँगी
और साथ से इस युद्ध में परम शान्ति पाऊँगी।"

बोलीं शची, 'सदिच्छा है यह बेटी सौम्य तुम्हारे,
सत्य प्रेम सेवा तो हैं ही प्राणाधार हमारे!
इन तीनों ही में है केन्द्रित गौरव महिलाओं का
यही धर्म है, सब देशों में सुर-नर-बालाओं का!
कार्य हमारा है, पुरुषों को दें निःस्वार्थ सहाय,
कर्म-मार्ग में सफल बनाने के रच सभी उपाय
उनके कटु कर्त्तव्य-भार को परम सुगम्य बनाना
घर से भी आत्मीय भाव रखना जग को सिखलाना!

सिखलाना जिस विधि हम बालाएँ हो भी परकीय
कर लेती हैं वास्तव में पति-पतिगृह सभी स्वकीय
जिस विधि हम सचमुच पति की अर्द्धांगिनि बन जाती हैं
उनके सुख में सौख्य तथा दुःखों में दुख पाती हैं
उसी भाँति सम्भव है जग को भी आत्मीय बनाना
सचमुच समष्टि के सुख-दुख से अपना सुख-दुख पाना
एवं निज व्यक्तित्व भूल सबके हितार्थ समाना
छोड़ कुटुम्ब कर्म-तरी पर जीवन मुदित चलाना।"

पल भी बाधित ही हुआ सुरांगनागण-चित्त
रहे लगे तब सोचने सभी कुटुम्ब-निमित्त!

इसी समय फिर आए समाचार कि सुर-पति-चर आया है एक
साथ ही आए उपहार बने देवियों के भी तुल्य अनेक!
शची ने आज्ञा दी तत्काल कि चर को लाया जाए यहीं
दूत ने आ प्रणाम कर, दिया पत्र सुर-महिषी पढ़ने लगीं!
सुनाया फिर जिस विधि अरि-राज मरा फिर कैसे करो यहीं
जिस तरह सुरपति का अनुराग भी न सुन सेना आज यहीं!

किस साहस से सुरों ने निज कष्टों को भूल
वर्षों ही में शत्रु पर किए सतत गज हूल !

एक फिर बोल उठी 'सुर-सैन्य न नहीं किया योग्य यह काम
युद्ध में तो निश्चय ही उन्हें ठहरकर सेना का विश्राम ।
दूत बोला "हे सुरगण देवि ! क्रोध से मन्यु-युत बन रहे
हृदय में सबही के थे कंठ भरे प्रतिहिंसा से जल रहे !
साथ ही सेनापति इत्यादि सभी का था ऐसा अनुमान
कि रक्षण करने में आक्रमण मिलेगा हमको साथ महान ।
[illegible] ने कहा "ठीक है पुत्र ! करेंगे सब शुभ ही भगवान्,
सुरों का साहस गुरु की कृपा चमूपतियों का अनुभव-ज्ञान ।
देव-बालाओं की हरि भक्ति राष्ट्र का सत्यपूर्ण व्यवहार,
करेंगे निश्चय विजयी उन्हें भग्न ही शत्रु बल संहार ।
कहा फिर सबने 'जब सुर-वृन्द शौर्य है ऐसा दिखला रहे,
युद्ध में भी मन का रोष शत्रु में है या अनुभव रहे,

तब हमारा भी है यह ही धर्म कि हम कर सबकी वीरांगना
न मान रे मन में भी भीति पराजय शान्ति की कल्पना !
रहें प्रस्तुत महिलाएँ समर रण में करने को संग्राम
तथा करने को अरि का नाश या मिटाने को अपना नाम !
हुआ इसका प्रभाव भी उचित सभी के मन में हर्ष जगा
स्वबल निर्बलता पर प्रत्येक हृदय में लज्जित होने लगी !
भरा सब साहस सब ही सभी सोचने लगीं साहसमय कार्य
कि जिससे करके वे भी दिखा सकें निज राष्ट्र प्रेम शौर्य !
देख इस परिवर्तन को हुआ सभी के मन में अति आनन्द
सभी वह निकल उधर पहुँचीं फिर जहाँ था स्वच्छन्द !

पत्र लिख, चर को दे, फिर कहा "भेज दो इसको तात तुरन्त
और फिर आकर करो विश्राम करो इस दौड़-धूप का अन्त।"

रमा चुप देख रही थी ठाट, मिले कुछ वसन्त का संदेश
किन्तु कुछ कहा न चर ने न ही दिया रानी ने कुछ निर्देश !
उधर सबके सम्मुख भी था न पूछना सम्भव ऐसी बात
किन्तु उत्सुकता का भी कहाँ सहज में मिटता था उत्पात ?
पड़ा असमंजस केवल कसक भाव मन-इच्छा में छिप गई;
वह बची नहीं रक्त की अधर-कपोलों पर लाली चढ़ गई !
दंत लिख नायिकों न छूटे नयन भी लज्जित हो झुक गए;
इधर भी देख मार्ग अवरुद्ध एक क्षण ज्यों-के-त्यों रुक गए !

अन्त में ताजा मध्यम मार्ग सासु को उठकर किया प्रणाम
और सहचरी-सहित था किया अनावृत सपनागार ललाम !
फिर वहीं घुमता चर को सभी पूछने रण-सम्बन्धी बात
क्या जब वह सेना को छोड़ गई होगी तब कितनी रात ?
नवागत सैनिक-गण के पते प्रमुख सेनानीगण के नाम
मार्ग में हो यदि कोई मिला प्रमुख नव-सेनापति बलधाम ?
किन्तु था चर न चतुर, वह समझ ही सका नहीं जया की बात
और दे सीधे उत्तर लगा देखने पर पाने की घात !
जया भी प्रश्न तो कुछ किसी किन्तु फिर समझ सब निर्दोष
दीप साहस नूतन पथ-दीप स्थापकर सरस कुछ प्रति रोष
पूछने लगी जयनगर-सैन्य आ गया था तब अथवा नहीं ?
कुछ ने भी सबके सब समझ, छोड़ कर कहा माभुमी ! नहीं !
सम्भव है वे आ गए हों मेरे पश्चात्
किन्तु उस समय तक न थे उनके कुछ सम्वाद !

सुन कथा करके भर को विदा गई शय्या पर करने शयन
किन्तु होते ही वे बन्द नयन बिना निज बन्दी पाए मदन !
रहा था पहले तो चित्र चित्र सजाने में वसन्त-शृंगार
पहुँचने में फिर सुरपुर और वहाँ करने में विविध विहार !
देखने में पथ के नव दृश्य कभी करने में कोई बात
किन्तु इस समय न था कुछ काम रोकने को चिन्ता की घात !

मत पा अवसर चिन्ता और विरह ने छेड़ी अपनी तान
चलाने लग घातों की तरह अरक्षित अबला पर वे बाण !
सकड़ों दाहाओं से हृदय-मध्य था छेड़ी उथल-पुथल
हृदय क्या अंग-अंग हो उठ विकलता की ज्वाला से विकल !
दूर से सुनी हुई पग-चाल कथा-हृद में माना था चिरी
चन्द्रिका के रहते ही रात्रि बनी संध्या सुदीर्घ हो चली !

पल-पल पथ में अनन्त का किसीके भास
की हो चली भ्रान्ति सखियों को लगी भेजने
तट-पथ की मरर ध्वनि मात्र सुनकर
ही उन झरोखों में से झाँक लगी देखने !
कोई न दिखाई देने पर हो निराश पड़ी
शय्या मध्य सभी हार सुमनों के चलने
कभी तम तोरन उखाड़ने कभी लगाने
लगा कभी मधुमासी उठ-उठ बैठने !

कभी कोई पथ-पंथ पाठ करने का ढीर
निकट मंगाया किन्तु कहाँ पढ़ पाती थी ?
प्रसंगों को देख-देख आँखें अकुलाती माला
उर में मधुर सपना विचार आती था !

भावों को भी भवरों में भटकाती किसी विधि
सो न मनोवृत्ति मन ग्रंथ में लगाती थी
अंत में निराश हुई, फेंकती निश्वास फिर
पुष्प-राशि-जैसी सेज मध्य पड़ जाती थी।

फिर परिचारिका से रागिनी छिड़ाती कभी
चौपड़ नरद पति-चित्र मँगवाती थी
कभी छिड़काती सारे कक्ष में गुलाब कभी
छाती पर सारी पुष्पमालाएँ बिछाती थी।
तर तर होते थे पसीने घबराता मन
जीने की भी आशा-डोर छूट छूट जाती थी
भूली मन होश कर-कर रोष दोष देती
देव को दया के लिए देवों को मनाती थी।

कभी मन मार दूर करने को दुख मन
भर भर रोम की तरंग मन भाती थी
किन्तु पथ पे नहीं भभक रहे थे हृदय
में तो ऐसे भभूके कि देह जली जाती थी।
फिर जब देखती थी भोगों में सचित्र पति-चित्र
तब एक और बाधा बन जाती थी
रोग भय था कि चित्र ही न घुल जाय कहीं
बिना रोग भार-मुक्त होती नहीं छाती थी।

बैठे पास भी न पड़े चैन दूर पर पुष्प
बिखर रहे थे कमलों पर तुषार-से
लगते थे फूल बन जाते कंटकों-से तीक्ष्ण
स्पर्श करते ही अंग दहके अंगार-से!

शशि-सुधा-सीकर बरस रहे थे सतत
किन्तु आज थे वे तप्त तेल की फुहार-से
सारे ही पदार्थ कल थे जो प्रेम भाव पगे
आज बन रहे त्याज्य थे वे दुराचार-से !

लगा कुछ ही क्षण के पश्चात् पलकन रह रह ललित नयन
हो गया क्या पथ पर कठिन आचरण फिर क्या शयन ?
बीतने लगा प्रतिपल युग-सम कष्टों न पूर्ण
हो पाते हृद-गत रसमय भाव कामना की चोटा से चूर्ण !
स्वर्ण-सी देह पड़ गयी मलिन शान्ति-सुख सभी भीत हो भगे
भाव आशा-आश्रित ही त्याग सोकर फिर-फिर जागने लगे !

देख सखियों का छूटा धैर्य गई कुछ आप सखी के निकट
सुनाकर सारी बातें कहा अवस्था है मानुषी विकट !

सखी ने तुरत कया के स्वर्ण द्वार में जाकर किया प्रवेश
देख लज्जित हो उठकर कया व्यवस्थित करने लगी स्व-वेश !
सखी को कर प्रणाम फिर सेज पर बिठा कुछ सकुचाती हुई
भूमि पर, मातु चरण के निकट स्वयम् बैठी घबराती हुई !
सखी ने देख हुए अनेक भाँति सान्त्वना कहा—"यों व्यर्थ
अनावश्यक बातों के विविध लगाकर भूले चिन्तित अर्थ !
तुम्हारा विदुषी का है यह ऐसा धीरज खो जाना विकल
न है केवल लज्जा की बात करेगा औरों को भी विह्वल !
तनिक सोचो यदि तुम ही स्वयं इस तरह होने लगो अधीर
तो किसे देख सहेंगे और हृदय इस विरति-प्रहार के तीर !

विरति अग्नि में तपता है निखरे स्वर्ण-
पर बनता है मोह का पुतला गुरु मंदिर

वास्तव में चिन्ता के लिए नहीं है अब तक कुछ भी बात"
कह रानी ने देकर वह पत्र नत-नयन पुत्र-वधू के हाथ
कहा "इसको पढ़ निश्चय तुम्हें मिलेगी बेटी सच्ची शांति
आप ही होगी सब अस्पष्टता प्रमाणित केवल भ्रम की भांति !"
उमा ने पत्र खोलकर पढ़ा और सचमुच ही पाई शान्ति
तत्क्षण उसके मुख पर चमक उठी वह ही पहले की कान्ति !



चतुर्थ सर्ग

इधर वसु सुर-सूनु को बिना रुके यान एक
बड़ी चली था रही थी निज युद्ध की टेक।

शचीपति ने समझाया बहुत देवगुरु ने भी कुछ विश्रान्ति
प्राप्त हो जीवन भर को शक्ति उपजाता की मिट जाए क्लान्ति!
किन्तु जीवन भाषा का विष यहाँ तो भी गयाना बन रही
सभी के हृदयों में प्रतिशोध भाव की चोटी भी बन रही!
फिर मिले मित्र सारद प्रण धीर जो सभी उन्होंने कहा
वहाँ ही उनसे प्रदेश हृदय की वह मर्मान्तक व्यथा!

उन्होंने निश्चित उत्तर दिया "आज का जीवन हमें युद्ध
नहीं अवसर मिले विश्रान्ति नहीं होगी जब युग का युद्ध।
न जब तक सुर-सीमा न शत्रु-सैन्य का ध्वनि-ध्वनि हो बात
था न जब तक सुरपुर का बाह्य-विश्व तक मन में फिर आज

शांति की तब तक है गुरु राज ! स्मरण करना भी होगा पाप
हमें तो जितना जल्दी बने मिटा दीजे अरि-दल से भार !"

जल रही थी कटाह-सम भूमि आग बरसाता था आकाश
धूप की लपटों से हो गया बन्द था वृक्षों तक का श्वास ।
कूपगामी नदियाँ क्षार थी ग्रस्त जा रही थीं घबराई हुई;
वायु भी हूक रही थी छाँह लताओं में कुम्हलाई हुई ।
श्रम-श्रम प्रस्वेदों से भीग रहे थे सर्व सहज कुठार
किन्तु गुरु-दल ने क्षण भी कहीं ठहरना नहीं किया स्वीकार ।

अन्त में ज्यों-त्यों सन्ध्या निशापति गगन दिखाई दिए;
निशा ने निज कृष्णाम्बर बड़ा लगाए, गिरि राह बाट ढक लिए ।
वायु को चलकर था था बन्द पशुओं का चलना हो गया
सूर्य अकुलाकर, पय-निधि-गर्भ-मध्य जा सुख निद्रा सो गया ।
चन्द्र-सम रश्मियाँ बना गात गुल्म कुसुम पर करने लगीं
खेलती हुई मुदित हो ओस बिछौनी बिछानी फिरने लगी ।

इधर सेना से आगे कई गुप्तचर बने अनेकों वेश
चल रहे थे रखते यह ध्यान कि रिपु का गुप्त मिल जाय संदेश ।
अचानक उन्हें दिखाई दिए, एक झाड़ी में पड़े अचेत
भीर वश गुप्त असुरों के दूत भूलकर निज नियुक्ति का हेतु ।
गुरु चरों ने उनको तत्काल बाँधकर निज बन्दी कर लिया
और उन ही से सब गुप्त ज्ञान, रास्ता गुरुदल का फिर लिया ।
हुई गुरु-भारी छींका टूट भाग्य से बिल्ली के गिर गया
शत्रु की सारी गति-मति का पता गुरु का क्षण ही में मिल गया ।
शत्रु के अगम-अटल-तट शिविर जलाने की भी सारी बात
हुआ सबको सुनकर गम्भीर कि रात्रि अब अरि के आघात ।

अचानक घन-पटलों ने दसों दिशाओं को आवृत कर लिया
रात्रि ने मानो सारी भूमि और नभ-मंडल को भर लिया।

छा गया सहसा तम चहुँ ओर, दृष्टि की घटी अपनी शक्ति
ग्रीष्म में प्रावृट् का अवतार देख मोरों में उमड़ी भक्ति!
दूसरे ही क्षण बनी पुकार चला न रहा अपना काम
वायु ने भी पकड़ा कुछ जोर, मचाया वर्षा ने कुहराम!
शचीपति ने गुरुवर से कहा प्रभु! यद्यपि अभिमत निकट
किन्तु इस समय प्रकृति ने कार्य युद्ध का बना दिया है विकट!

थके हुए भी हैं सभी अतः करें विश्राम
प्रातः फिर से करेंगे निश्चय ही संग्राम!
किन्तु दैत्यगण इस रहे निज निश्चय अनुसार,
और तमोगुण आक्रमण को हो रहे तैयार!
सेनापति ने भी कहा अवसर है उपयुक्त
इसी समय का आक्रमण हमें करेगा मुक्त!

गुरुदेव समझ बोले "सुरगण! यदि अभी युद्ध करना हो
इस काल रात्रि में ही रण कर्मों का सत्वर करना हो
तो निर्भय होकर चलिए, इसको कुछ आपत्ति नहीं है
यदि मैं फिर जाने की उपयुक्तता इसको परिचय नहीं है!

किन्तु देवगण! रिपु को पहले पराजित कर दीजे
शोक-मग्न हो सुर-गौरव-विपरीत कार्य मत कीजे।"
सेनापति बोले "यदि ही है कौन अन्धकार-व्याधि?
उनके तो रण में ही की है सृष्टि नष्ट कर मारी!"

गुरु बोले "निश्चय ही यदि है कपटी अत्याचारी
उसने छल-बल से ही की है इतनी हानि हमारी।
उस ही ने अनेक ग्रामों को है श्मशान बनाया
अबलाओं शिशुओं तक पर है विपत्ति-ध्वज फहराया।
पर फिर भी क्या उसके सम होना है धर्म हमारा ?"
बोले दलपति "है क्या पथ का हमने लिया सहारा ?

कर सकते हैं दस्यु पाप स्वार्थ-अर्थ अनरीति;
तो निज रक्षा अर्थ क्यों गहें न हम यह नीति ?
गहें न हम यह नीति अस्तु यदि भी तो जानें—
कैसे काम आती हैं छल-कौशल की घातें !
प्रभो ! न हम इस अवसर को सहसा छोड़ेंगे
अधर्म हो तो भी न इस समय मुँह मोड़ेंगे !

सह सकते हैं निर्भय, गुरुवर ! निज प्राणों की हानि
सत्यनिष्ठ यदि तज भी सकते हैं वे निज धन मान !
किन्तु नहीं सह सकते शिशु अबलाओं का अपमान
अथवा होना धर्म और स्वातंत्र्य आदि अवसान !
जो इनपर कर तो क्या कुदृष्टि से भी घात करेगा
किसी भाँति हो वह निश्चय ही तत्क्षण वहीं मरेगा !

फिर काश्यप ने तो है निर्दोषों पर असि चलवाई
आज स्वर्ग-कष्टों का उससे अधिक कौन है दायी ?
आज अनीती कर क्रूरता के ही बने शिकार
कितने शिशु जीवित ही जलकर नहीं हुए हैं छार ?
नहीं सुन पड़ी है रो रो कितनी माँओं की वाणी ?
कहीं न कितनी कुसुम-कुंज हैं बनी धरा की दासी ?

अतः आततायी-वध में है विहित आसुरी नीति
आज्ञा दीजे हमें मार दो छोड़ धर्म की भीति !"

गुरु बोले "अविचार करो मत वीर, क्रोधवश होकर,
नाना असुर पड़े हैं सुरगण के पीछे कर धोकर !
उनके निकट न्याय धार्मिक का कुछ भी मूल्य नहीं है
उनके लिए स्वर्ग रौरव युग-युग सुख सदन वहीं है !

किन्तु देवगण ! देव देव ही हैं वे न्याय गहेंगे
कभी न रिपु की क्रूर नीति में वे हो अन्ध बहेंगे !
सोचो यदि शाठ्यम प्रति शाठ्यम का हम भी अपनायें
असुरों की छल-पूर्ण नीति को अपनी नीति बनायें
निद्रित पड़े शत्रु शिविरों में जाकर आग लगा दें
फिर भयभीत पलायित सेना पर शस्त्रास्त्र चला दें

तो फिर क्या अन्तर सुर-असुरों की शक्ति मध्य रहेगा ?
कौन सुरों को श्रेष्ठ और असुरों से भला कहेगा ?
किस बल पर हम असुरों को धिक्कारें-ललकारेंगे ?
किस बल पर हिंसा कर भी गर्वित हो हुंकारेंगे ?
क्या चिल्लाकर बोलेंगे, है सच्चा पक्ष हमारा ?
किस बल पर चाहेंगे हमको सबकी मिले सहारा ?

अतः सूचना भेज दीजिए निज सेना पाने की
बतला दें आवश्यकता है तुरन्त सज जाने की !
और यह कि हम सम-बल सम रण-कौशल का कर आज
निज-निज जोड़ी के योद्धा को करते हैं आह्वान !
हाँ यदि असुरों स्वीकृत यह सुर रण का नियम न होगा
तो फिर अधम युद्ध के नियमों ही का पालन होगा !

सेनापति ने मुख-पर रज से कहा "क्षमा हो स्वामी !
प्रतिशोधों ही में बल के थे इस क्षण हम अनुगामी !
युग-युग भीषण कथा असुर-गण के अत्याचारों की
निर्दोषों निर्बल सुरों पर हुए क्रूर वारों की !
पावन है मन खुले अभी हमको कुछ भान नहीं है
हमें इस समय युद्ध भावना तक कुछ ज्ञान नहीं है !
यदि क्षण भर के भी लिए आप चुप ! इस प्रचण्ड ज्वाला को
इस अरि कल्पों की स्मृति-पट पर झलमलती अति माला को !
उस आँधी को जो सुर-युवकों के हृदयों में चलती है
उस होली को जो आज सुरों के हृदयों में जलती है
उस स्वाभिमान को जो ठोकर खाकर नागन बन जाता है
उस मधुरबोधित मन को जिसमें सुरत्व ज्वार आता है
इस दुसह जलन को तीव्र वेदना को निज मन पर सकते
तो निश्चय ही हम लोगों की स्थिति का अनुभव कर सकते !
परन्तु, भेजते हैं अभी हम निज दूत विशेष
ठीक समय पर शत्रु को देने रण-सन्देश !"
गया दूत अरि शिविर में ऐसे समयप्रकाम
इधर लगा सुर-सैन्य में होने व्यूह-विधान !
पहुँचा उधर दूत सुरगण का ज्योंही शत्रु-दलों में
त्योंही चारों ओर मच गई गड़बड़ रिपु-शिविरों में !
कौन निकलता ही था बाहर जो वर्षा का मारा
मत औंध का भार सभीने योधियों पर डाला !
योधियों ने भी कम्पित उत्तर दे झगड़ा भेटा
और किसीने कम्पित उत्तर पर भी हास्य भरेरा !

कहा किसीने, अरे! सुरों मे विष छाया सारा है
कहा किसीने भस्म हो गया अमर शिविर सारा है!
कोई बोला भाग रहे हैं रे सब तुम भी भागो
कोई बोला अरे! भगो चुपचाप न कूक मचाओ!
जनत जो भागा वह उठ भागा मुंह उठा जिधर को
कोई भगा भौंग पीछे ही जाने देख किधर को!

छूट गए परवास्त्र किसीके और किसीकी पगड़ी
हाथ पड़ा बस परिधि किसीके और किसीके लकड़ी!
किसी-किसीने जल्दी जल्दी सिर पर बांधी कछनी
किसी-किसीने अंगरखिणी से पैरों मे पहनी!
कितने बन आँखें मीचे आपस ही में लड़ बैठे
कितने भेद तोड़ भागे तो खम्भे से भिड़ बैठे!

कितने ही बोल अरे छाए है पसीने पानी
बरस रहा है कुछ दृष्टि नहीं आता है
कज्जल के कूट जैसी कृष्ण घन-घिरी ऐसी
रात्रि में भी भला कहीं युद्ध किया जाता है?
तुम भी विचित्र प्राणी हो जी! दूसरों का सुख
मानो तुम्हें फूटी आँख भी नहीं सुहाता है
सोने के समय चले आए जूझने को यहां
अजी मरना भी अपने हाथ में ही आता है!

पहुंचा सारा हाल हिरण्यकश्यप के निकट
रचा व्यूह तत्काल आज्ञा दी असुरेश ने!

सुन कहा अब युद्ध का है न हमें अभ्यास
पर सुर निकट सामने का होवा न प्रयाण!

सेनापतियों से कर मन्त्रण समझाया सबको विपति स्वप्न।
फिर दल विभक्त कर रचे व्यूह गज कहीं पदातिक-गण समूह।
बज उठे शंख भेरी निशान बन्दीगण गाने लगे गान।
दलपति निज-निज दल को प्रचार युद्धार्थ लगे करने तयार।
महावीरों का कैसा प्रकाश तब आया मानो हो हुताश।
उस ओर सैन्यगण सजे साज झपटे ज्यों सखि आखेट बाज।
क्षण में जुट दल शस्त्रास्त्र धार भिड़ गए, उठी ध्वनि मार-मार।
भिड़ पड़े सुभट तज प्राण-प्रीति भागी भयभीता मृत्यु भीति।
ली खींच किसीने कर कृपाण कोई ले बढ़ा तूणीरण बाण।
कोई लेकर अभिमुखा कटार निज अरि पर कर बैठा प्रहार।
धर धमे पदाकुल अहि-समान पाए अन्येषण मसाहान।
घन में तो थी चंचला एक घन पड़ी यहाँ चपला अनेक।
दोनों दल-बल रण-नाद घोर आहत रव रणकत दुंदुभ शोर।
घन घोर विनिन्दक दंतनाद जयघोष पूरयश मम्य नाद।
नर-वीर हाँक आहत पुकार शस्त्रास्त्रों की कटु रणंकार—
में डूब गया यों तड़ित नाद ज्यों सिन्धु-गर्भ में पवि-नाद।

रण-रंग में घन-गर्जना निःशब्द हो लय हो गई
रजनी-घनी की सघनता घना/रण-द्युति में सो गई।
यों घूमकर दोनों दलों के वीर रण में अड़ गए
ज्वालामुखी दो क्षोभ कर ज्यों परस्पर भिड़ गए।

इसी घमासान को सहम मान मानो फिर
मेघ-माला घोर-घोर वृष्टि बरसाने लगी
चपला चली मानो काम रति अट्टहास कर
दम-दामिनी को पवि-कौशल दिखाने लगी।

वायु चली मानो शेष-सैन्य भर क्रोध, फन
उठा पथ रोक दोनों दलों को डराने लगी
उपलों का ताँता लगा मानो धूम्र वृष्टि सब
मर्म-गर्म गगन से गोलियाँ बसाने लगी ।

किन्तु स्वच्छ सुरवृन्द का घटा न रणोत्साह
वे बढ़ते ही गए तज जीवन की परवाह ।

उस ओर वीरों को वरण करने को जुटे
पुष्प वीरांगनाओं के युद्ध-गीत गाने लगे
कस गात माते इठलाते, मुसकाते मानो
क्रूर युद्ध-कला को भी सरस बनाने लगे ।
तम को हटाते दृष्टि सबों की बचाते पुण्य
मालाएँ लिपाते युवकों को समझाने लगे
देख-देख अमर गुणों के प्रेमी घुप भूम
झूर-झूर शुभ्र मणिधारा मध्य नहाने लगे ।

मन्त्रियों का माना मान था न निज देह का भी
पशु की तरह घुस सींचे मरे जाते थे
चतुर गज असुर-पदाति, रथी अतिरथी
बार में जो आता उसीको धर दबाते थे ।
अन्धकार था तथापि हाथ लगते थे सब
रचना से लक्ष्य कर विरोधी को गिराते थे
ज्यों-ज्यों मार खाते त्यों-त्यों ध्यान था अधिक आय
मार-मार और कर आये ही बढ़ाते थे ।

देखते ही देखते रणोन्मत्त बाँकुरों के
कर, पर परिघ कृपाण बाण मड़ गए
कहीं पैदलों से पैदल कहीं कुंजरों से रथी
सामने पड़ा जो वीर उस ही से भिड़ गए।
हाथ काटे किसी के तो चरण किसी की कटि,
शीश कट वीर कितने ही भूमि पड़ गए
कोई मुंड भूम ज्योंही भूमि गिरे त्योंही धन—
घोर घमासान मध्य बीच बीच गड़ गए।

कोई मुंड पड़े मार-मार करते थे कोई
व समीप साथियों का साहस बढ़ा रहे
कोई रुण्ड खंग लिए रणों में रहे थे दौड़
कोई प्रभु को थे मन में बसाए जा रहे।
कोई बैठे हुए भूमिसात परि-जन पर
वायु में परिघ निरायुध थे हिला रहे
कोई निज प्रभु को उठाए हुए पुष्प लिए
क्या थे उस राह सुरलोक की लिया रहे!

कुछ कुरुपक्ष का तो पूछना ही क्या वह थे ज्यों
चारों ओर रण बन चक्कर भगा रहे
न प्रसन्नमुख कर परिघ प्रखर लिए
देव शाहियों का ठौर-ठौर से भगा रहे।
जहाँ भीति होती वहीं पहुँच-पहुँच बन
थे वह पुत्रों न तब मालूम पता रहे
भूतनाथ भस्म समान शिवकारी कर
गिर सम गजते वह शेर का बुझा रहे।

अकेले ही बोलते थे सौ सुरेशों के समान
रण में यहाँ तो कभी वहाँ जा पुकारते
कहीं असुरों का मद-नृत्य ज्यों मसान हुए,
कहीं निज मंत्र परम-कर्मों में उतारते !
जहाँ सुर-वाहिनी तनिक भी हटाती पैर
वहीं देव जात के सुरों को ललकारते
बाजीगर-जैसे कभी वाजि पर, कभी गज
कभी रथ बैठे रथी गणों का प्रचारते !

जिस पार जाती उड़ असि समरधनी की
दूर गुमनों के हथियार छूट पड़ते
म्यान म निकस यहाँ घूमती कहीं ता मानो
मागन ही मायने भी भाग्य फूट पड़ते ।
पाड़ बढ़ गई असुरों म ऐसी डर की कि
हाँट म ही माना देवि देव रूठ पड़ते
पदिप प्रहार करने को बाहु उठते ही
सरपात हा स्मृद्-हार टूट पड़ते !

वह कभी रण की फुकारती विशाल मही
कटे बाहु पार मस्य मग उमगान मय
हाम धिर-भरदा गगामन गतिय-गति
रण-ग्राह-मगर मरा बह जान लए !
पुण्य बने हाथी पदहीन रथ पन्थ यादि
ढोर-ढोर पानी की सेना का गगाय मय
नृग गगा पुण्य जागती की कला हुई जान
मन-मन रम रन माथ माथ मरान सग !

पड़ी शव पंक्ति मानो लोहित-समुद्र मध्य
ठौर-ठौर मग्न द्वीप पुंजों की कतार है
या समुद्र-गर्भ-गत शैल-श्रेणियों के हुए
शेष रहे खड़े शृंग-पुंज की बहार है।
पड़े पड़े मानो पीन मकरों से घिरे हुए
बैठे सिन्धु-कच्छपों के बड़े सिरदार हैं
जिस ओर देखो बस छायया गुलाल रंग
मानो आए वन्य-श्री के फागुनी त्योहार हैं।

हो गया पमीर्ण युद्ध-वाहिनी सिपाहियों को
प्रलय के देव भूतनाथ नृत्य कर उठे
भूमि पोली पड़ ऊँची शव उभर आई
मानो रज-कणों के भी उदर अधर उठे।
चण्डिका के खप्परों की कौन कहे शेष भली
गद नाले-खाले सब शोणित से भर उठे
मस्त हुई काली कर उठी किलकारी सुन—
भूत प्रिय प्राप्त हिम शृंग में सिहर उठे।

अन्धकार से एक था सबको भान महान
करता था प्रत्येक निज जन का ही अनुमान।

अस्तु अर्द्ध से अधिक रात्रि गई, तब कहीं
वारिदों के पुञ्ज धौत लो लगे बिखरने
निशानाथ नखत-गणोत्करों से घिरे पूरा
विम्बहीन बने शून्य में लगे विचरने।
युद्ध भूमि पर से यवनिका उठी प्रकाश
रश्मि-दल लगे रणभूमि में उतरने

देव-सेना पीछे हट आई थी अधिक देख
देख सुर-सैनिकों के लगे रोष भरने !

सेनानीगण सैनिकों को दे-दे धिक्कार
सेना में भरने लगे नवोत्साह संचार !

रोष-पगे सुर भी बढ़े भरते रण-हुंकार
निश्चय कर, अरि सैन्य को कर देने को क्षार !

उठ दल की तरह बढ़ विजय-मति ले सुर आज
मानो मदन-बाण-आहत हो क्रुद्ध उमापति आज !
रण-राग लगी सुन सुर-सेना प्रावृट्-घन-सम घिरने
कट-कट कर क्षीण वीरों के मधु-बिन्दु-सम गिरने !
किन्तु अवस्था ने असुरों का रण उत्साह बढ़ाया
और उन्होंने भी हिम-गिरि बन दृढ़ हो द्वन्द्व मचाया !

पग-पग हार मान सुर, अरि न तिल भर पग न हटाया
असुरों ने इस बार सुरों का अद्भुत शौर्य दिखाया !
कारण भी था स्पष्ट असुरदल आज बढ़ा हुआ था
उसको विजय प्राप्ति की आशा का मद चढ़ा हुआ था !

उधर कुछ असुर नभ में जाकर नभ बाण बरसान
रक्त-अस्थियाँ विगलित अस्त्रास्त्रों की झड़ी समान !
इस घटना से युद्ध-दशा ने सहसा पलटा खाया
पहली बार स्वर्ग-सेना में भय ने घर बनाया !
आप बचाओ कहो, कहो यह कहते प्राण के मारे
यही कहना था अमित वार्य यह विस्तृत बात निभाते !

देख न सकते थे वे अरि को न ही मार पाते थे
खोज लगाने के पहले ही सुर मारे जाते थे।
कितने ही निज मार्गों में बढ़ धूम्र-शिखा लड़ते थे
किन्तु विकल आहत हो फिर भूतल पर गिर पड़ते थे।
कुछ धुआँ-सा अकस्मात आँखों में भर जाता था
और व्यक्ति बेदम होकर क्षण भर में गिर जाता था।

अस्तु, देख सब विकल इन्द्र ने झट गुरु को बुलवाया
सब विपत्ति का सब रहस्य उनको कहकर समझाया।
सुन गुरु ने हँस हाथ धनुष ले सबको धैर्य बँधाया
कहा डट रहो अभी मिटेगी सब असुरों की माया।
धर संधान सजग कर अरि को फिर कुछ बाण चलाए
क्षण में मायावी असुरों के सब रथ खेत गिराए।

अन्त हुआ यह काण्ड सुरों के जी में जी फिर आया
एक बार फिर सुर-सेना-गर्जन ने व्योम कँपाया।
द्विगुण ओज भर बाहु-वेग से सभी सुर चमू बढ़ने
अबकी बार सभी असुरों में भीति पताकें गाड़ने।

इसी समय निज सेना लेकर जयन्त रण में आया
सबसे प्रथम पितृ-चरणों में आकर शीश झुकाया।
फिर परिचय पा सब बातों का वांछित व्यूह बनाए
बढ़ा शत्रु की ओर अडिग रोदे पर बाण चढ़ाए।
पिता-पुत्र के रण-साम्य पर सकल अचरज छाया
कहने लगे असुर भी अद्भुत है विधिना की माया।

सन्मुख समता की दोनों के प्रत्यक्ष व्यवहारों में
चेष्टाओं में, गति में स्वर में एवं हुंकारों में
इतनी थी कि देख सचराचर से भर ही जाता मन था
धायु भर को खोद, बताना अन्तर बहुत कठिन था !

अस्तु कर क्रोध मन भरे प्रतिशोध भाव
चपला की भाँति दृष्टि सैन्य में फिराता हुआ
मानो एक बार ही में निज-पर पक्ष व्यूह
आदि सभी बातें हृदयंगम बनाता हुआ !
सैनिकों के हृदय उमंगें-सी उठाती हुई
असुर-पावन स्वर्ण-ध्वजा फहराता हुआ
वज्र टंकोर, धैर्य तोड़ता विरोधियों का
विजयी जयन्त बस दिशाएँ गुंजाता हुआ !

सैन्य मध्य था सुरों को ललकार, बोला "धिक !
असुरों के साथ पर पीछे हो हटा रहे
अमर कहाते हुए, हो क्या आज सुर निज
वंश-कीर्ति भीति मृत्यु से स्वयम् मिटा रहे ?
सोचो इस भाँति तुम न ही मरने को निज
देवियों के प्रम के अयोग्य ही बना रहे
शिशु काम स्वर्ग सर्व सुर-नारियों का
क्षीण हो रूप निज जननी का भी लजा रहे !

सुन यह ही बना जब इन्हीं असुरों ने सुर
गुरु को जलाया था प्रसन्नता से भर-भर
मारा था पताकिनी सर्वांत शास्त्रहीन सुर
शिशुओं को दूर-देवियों का भंग कर-कर !

करोगे क्या क्षमा उन्हें ? नहीं कभी नहीं
तो बढ़ाओ आगे पैर, वीरो ! बोलो "हर-हर"
पड़ो मृगराज-सम असुर-मृगों के बीच
झपट झपेट मारो पशुओं को धर-धर !

जयन्त-भाषणों का हुआ मंत्र-समान प्रभाव
दग्ध सुर हृदयों पर गिरा ज्यों मधुर रस-स्राव !

दमित सर्प-सम क्रोध कर, बना-बना निज व्यूह
काल-मेघ से बढ़ चले सुरपुर-सैन्य समूह !

सुरेन्द्र भी निज हृदय में भर नूतन उत्साह
घुस अरि-चमू सिंधु में लेने रिपु-बल थाह !

गूँज उठे फिर जयघोषों से धरणि-व्योम
कुपित सुरों के भुज-मण्डल धमक उठे
दामिनी सी सैन्य-मध्य नाची श्याम रात्रि मध्य
भालों आगे भाले झनझनाते चमक उठे !
चारों ओर मार-मार, वीरों की हुँकार मध्य
काली-कर के त्रिशूल-खप्पर गरज उठे
फिर एक बार सुर-सैन्य-सर्जना को सुन
दोनों में पड़े कृपाण दुधारे झनक उठे !

असुर-चमू के नायकों ने भी रण-नीतियों से
कहा ललकार, देखना न बात अभी बाल
ऐसी टाल टालो नाशकोपी सुरवृन्द के न
फिर रण धाम रखने ही का समय आए !

सेतु बन जायें शवों के तो बन जायें सिन्धु
कायरों का पर रंच भी न पीछे हट पाए
सूर्य उगने के पूर्व आज असुरों का ध्वज
बात है तभी कि इन्द्रपुरी मध्य फहराए।

बढ़ा असुरों का भग्न सैन्य घिरे मानो घन
घुमड़-घुमड़ घोर घोर युद्ध होने लगा
बाण-वृष्टि वारि-धारा के प्रवाह मध्य बड़े
बड़े रण-मद-भैरवों का धैर्य खोने लगा।
असि-चपला की चपलाई भरी चालें देख
असुरों को लाल रंग भाग का मिलोन लगा
बह चले लाखों नाले शोणित-सलिल भरे,
वृक्षों का समूह मल-मल अंग धोने लगा।

मचा घमासान रण था न रुका मान मत्त
गज के समान मत्त सैन्य लग लड़ने
धर्माघात मध्य तरु तनों के प्रपात-सम
कट-कट भटों के शरीर लगे पड़ने।
धड़-धड़ ध्वनि करि रत्न जड़े मुकुटों से
रत्न, मानो भोगों के अंगारे लगे झड़ने
मघवा सुरेश के शरों के शून्य भेदन से
लगे शून्य-दल बड़े नगर उजड़ने।

इन्द्र ने प्रचण्ड था पराक्रम का पराक्रम धीर
असुरों प चारों ओर प्रलय-सी ढाते हुए
बढ़ा वायु-वेगवान आज मैं वलित हुआ
नागराज जैसे निज शत्रु को खाते हुए।

द्रोण के समान युद्ध पार्थ के समान तीरण
शरों से जो शत्रु-सैन्य में थे मानो छाते हुए
छोटे-छोटे शत्रुओं को मार रहा था यों मानो
सभी शत्रु-सैन्य उनके थे पहचाने हुए।

बाण क्या थे छूते थे मानो चिर-प्यास युक्त
एक एक बीस-बीस दस्युओं को काटते
कौन चिर मंत्र द्वारा उनका उच्चारण जो
आप मंत्रवादियों ही को थे मृत्यु बाँटते?
छूते ही थहराते थरथराते भहराते
गिरते वहाँ थे वहीं धन-धूम पाटते
जिस ओर जाते उस ओर बस ही के बल
दृष्टि आते दस्यु भूमि को थे धूम पाटते।

किन्तु प्रसन्न हृदय में इस रण से न हुआ सन्तोष
उनको था हिरण्यकश्यप पर ही सर्वाधिक रोष।
और असुरपति कहीं सैन्य में नजर नहीं आता था
प्रयत्न कर भी अगस्त्य उसको देख नहीं पाता था।
अगस्त्य ने इसलिए मन में यही मंत्र मन ठाना
कि चाहिए परिस्थितियों में कारण का पता लगाना।

कहा सारथी चक्र-रथों से सचेत हो जाओ
पूर्ण वेग से आज शत्रु-सेना के बीच बढ़ाओ!
क्यों न अब न पहुँच यहाँ तक शत्रु शिविर में जाएँ,
सम्भव न कोई भी सेनानी साथ हमारे आएँ!
अतः बढ़ा रथ देख यह असुर सेनानी चकराए
भाँति भाँति की आशंकाएँ कर करके घबराए!

किया प्रयत्न उन्होंने भी भरसक बाधा देने का
अथवा जयन्त को ही धोखा देकर धर लेने का !
किन्तु जयन्त-शरों के सम्मुख किसका बल चलता था ?
जो सम्मुख आता था तत्क्षण भूमि पड़ा मिलता था !
तदपि लगा ज्यों-ज्यों जयन्त रथ निकट शिविर के आने
त्यों-त्यों लगे प्राण असुरों के अधिक-अधिक अकुलाने !

अब अरि भी दृढ़ व्यूह रच मरण प्रतिज्ञा ठान
खड़े हो गए मार्ग में अचल हिमाद्रि-समान !

तुमुल युद्ध अब मचा कठिन हो गया मार्ग का बढ़ना
करते हुए सामना अरि से अब वीरों पर चढ़ना !
उधर असुरगण ने फिर मिल भीषण षड्यंत्र रचाया
हानि उठाकर भी रथ के चक्रों को काट गिराया !

फिर जयन्त पर लगे सभी मिल बाण-वृष्टि बरसाने
जयन्त का वध ही करने की सुदृढ़ प्रतिज्ञा ठाने !

रण में गए चक्र-रक्षकगण एक-एक कर मारे
एक-एक कर गिरे अश्व भी क्षत-विक्षत हो सारे !
छूटा सारथी के हाथों का धनुष गरिष्ठ भी टूटा
वक्ष कवच भी वज्र-शरों से जगह जगह से फूटा !

रात्रि समय था सुर-सेना को कुछ भी पता नहीं था
वहीं खबर ले जानेवाला कोई मित्र नहीं था !

देख यह दशा सारथी ले कर में अश्व-लगाम
छोड़ मार्ग कर दिया निज सैन्य दिशा प्रस्थान !

उधर मचल कर सारथी ने मारी ललकार
चमचमाता थी दुगना जयन्त का उन्माद !

चक्र-रक्षकों का मरण एवं रथ की हानि
लखित इन्द्र-मुख हो उठा रक्त सुवर्ण समान।

बढ़ा क्रोध सुरपति के जलने लगे अंग ज्यों सारे
पड़ने लगे अशोक-पुष्प सम आँखों से अंगारे।
अधर फड़कने लगे भृकुटियाँ भीति लगीं फैलाने
दशन-पंक्तियाँ लगीं स्वतः आपस में मिल मिल जाने।
तन था वहीं किन्तु मन रह रह लगा उड़ानें भरने
प्रतिपल उसको लगा प्रलय के युग की तरह सरकने।

पुष्प-कवच आच्छादित 'ऐरावत' को निकट मँगाया
और फेंककर परिघ काम भू-सम-निभ धनुष उठाया।
आज्ञा दी जो ऐरावत की सुण्डों में करवालें
तथा छः रथी तन रक्षक बन निज निज चाप सम्हालें।
छोड़ मार्ग हो चमत्कार फिर, लिए उल्लसित साथी
हूल दिया सुरपति ने निर्भय शत्रु सैन्य में हाथी।

लिया शरासन हाथ प्रलय ने मानो मस्तक उठाया
क्षण में असुर-सैन्य के हृदयों में भय राज्य जमाया।
ऐरावत के सब पुष्कर ही बनने लगे दुधारे
आम्र शेखरवत् उन्मन अरि के दल के दल संहारे।
अंबरचरों के बाणों की वृष्टि गगन की जारी
गूँज रही थी गगन-प्राण में सुरगण की जय-विजयकारी।

असुर-सैन्य भी लगी प्रथम तो किंचित बाधा पहुँचाने
किन्तु शिथिल पड़ी सुरपति ने पर वीर हाथ भर ताने
मार्ग हो गया ज्या यम गर्मी पर पानी है
अथवा देख सूर्य का तम की नमा टूट जाती है।

मची खलबली असुर सैन्य में, होश उड़े वीरों के
सुरपति के तीरों के आगे छिदे खेत वीरों के !

मानो मत्त मतंग लगा मृग-दल पर क्रोध जताने
अथवा क्षुधित सिंह मृग-झुण्डों को धर धूल मिलाने !
पाप चले यदि धीरों के धीरज का धैर्य छुड़ाने
अथवा शोक शोक से जलते सब की दृष्टि बचाते !
क्षुब्ध हो चली असुरों की अब माया मरु-योवन में
शोक भीमिमा बढ़ उनके मन में बढ़ गई गगन में !

देख सुअवसर सुर-सेना ने भी निज पैर बढ़ाया
असुरों ने भी समझ-बूझकर अपना मद ठुकराया !
छोड़ युद्ध सुरपति को वे सुर-सेना पर आ टूटे
और सुरों के सभी मनोरथ किये तत्क्षण झूठे !
सुन जहाँ था वहाँ उसी विधि युद्ध हो गया भारी
भूल गए सब किधर गए हैं ऐरावत सहचारी !

इधर बिना पीछे मुड़ देख सब भय विस्मय त्याग
अपना भी स्वार्थ बढ़ जाने न अर्जित भाग !
इस क्षण मानो उनके तन में भी दुर्गों का बल था
तत्त्व दरसता आत्मा ही आनन्द और बोधन था !
न हो भ्रान्ति भी उन्हें शत्रु-सेना में फिर जाने की
न हो किसी घटना-वश रण-पथ के पराये मान की !

देखकर उनका अद्भुत शौर्य धाम व उमड़ चला मद-मंदिर
अर्पित हो सा समाज उपर स्वयं भी देव शक्ति निज अंदिर !

किन्तु था उन्हें न कुछ भी ज्ञान इस समय थे वह रण रस पगे
पा रहे थे मारे अरिवृन्द और पीछे उनके छट गये !
किस समय लेते थे किस समय चला देते थे वह निज बाण
निकट बैठे साथी भी जान न सकते थे उनके यह ज्ञान !

कवच-रक्षित ऐरावत मग्न बन रहा था असुरों का काल
विन्ध्य-गिरि था मानो फिर रहा तोड़ता सर में भरे मृणाल !
सहस्रों का करती आखेट, चल रही थी उसकी तलवार
सहस्रों उसके कुचले हुए, पड़े करते थे हा-हाकार !
जिधर पड़ता स्तम्भ-सम टूट व्यूह रचना हो जाती व्यर्थ
न रहा साहस ही कुछ काम न रण-कौशल का रहता अर्थ !

दृश्य इतना विचित्र बन गया कि कितने ही रण कर रव बन्द
लूटने लगे इन्द्र के संग इस समर-कौशल का आनन्द !

किन्तु इन्द्र का था नहीं इन बातों पर ध्यान
चले जा रहे थे बढ़े वह तो मग्न-समान !

शर बरसाते कर शत्रों का सफाते दल-दल बहुमान
मानो प्रलय मचाते हुए
पथ में अनन्त सम पन्थ पार कर इन्द्र
पहुँचे जयन्त के निकट सुख पाते हुए !
किन्तु था जयन्त को नहीं यह ध्यान घूम वह तो
रहा था चक्र बना बाण बरसाते हुए
मानो मृत्युञ्जय-समान मृत्यु-सम निज
घूम रहे हों उसे निरन्तर चलाते हुए !

बार-बार दनुजों के सैन्य बाँध-बाँध दल
क्रोध के पयोद बन घिर घिर आते थे
किंतु विजयी जयन्त के करों की परिधि में
जो पग बढ़ाते थे न लौट फिर आते थे!
ढाल-कोट बना था जाल था समुद्र भ्रमरी का
शत्रु-सैन्य मानो मत्स्यराशि मँडराते थे
जहाँ धरते थे पैर जाल में तुरन्त उन्हें
बाँध मार जाल स्वर्गधाम पहुँचाते थे!

काम न दनी भी असुरगण की कोई चाल
वे पतंग थे और था सुरपति-सुवन मशाल!

विद्युत समान क्षणपूर्ण हो रही थी वह
तदपि शिथिलता अंगुलियों में थी न कहीं
देख गुण-शौर्य सुरराज-सुत अभिमान
भर उठा दानवों की आँखें फिर भी हो रहीं!
अन्त में महाजन सुरेश पग-रक्षकों के
जयघोष से जयन्त की समाधि खुली नहीं
हाथ रुके नेत्र उठे ओष्ठ हिले और फिर
मूर्छित हुआ वह वीर गिर गया वहीं!

गिरते देख जयन्त को सहम उठे सुरराज
बचा आपदा बचा प्रभो! व्यर्थ गयी मम लाज!
शिथिल पड़ कर भाव यह विषम हो चला विघ्न
छिन न जाय इस आयु में कहीं आयु का चिह्न!
उधर सुरागार दल असुर-सेना ने मार मचाने
मानो देख मदान्ध मृगों में सिंह लगे हिलाने!

क्षण भर में गजसहित उन्होंने किया विदा सुरपति का
वारांगनाएँ 'हा-हा' करतीं भगीं देख इस कृति को !
सभी दिखाई पड़े अदिति-मुख पर चिन्ता की छाया
श्याम पड़ गया रजनी का मुख पवन-हृदय घबराया !

पुनः हो सजग जिस घड़ी इन्द्र ने लिया फिर स्वरूप गृहीत
उसी क्षण क्षण भर में मिट गई मृत्यु की वह छाया गम्भीर !
न क्षण में रहा वह असुर-वीर्य न वह दुर्दम बाणों का पात
न मुदित जयन्त का उन धनु के करों में पड़ने की बात !

फिर उसी भाँति कम्पित सुरनाथ गर्जकर युद्ध जुझाने लगे
प्रतिक्षण सहस्रधा अरि-सैन्य को फिर धूल मिलाने लगे !

एक पल में असुरों का गर्व सर्व हो मिट्टी में मिल गया
कुमुदिनी के कुसुमों की जगह भाग्य से अरविन्द-वन खिल गया !
युद्ध करता रहा अरि-समूह पर चढ़ावा हो गया असाध्य
लगे होने उठने के पूर्व ही पुनः गिरने को अरि बाध्य !
शरों की आँधी से अरि-सैन्य-दलों की आँखें छिपने लगीं
असुरों के दल पर ज्यों दीपक-रश्मि मलिन रवि की छिपने लगी !

अन्त में असुरों ने मिल रचा एक दुर्गम भीषण षड्यन्त्र
सभी पर बन्धन-जाल को सहज चलाने लगे वरुण पढ़ मंत्र !
देख यह असुरों का कुचक्र कुटिल पर प्रबल आघात
हुआ सुरपति को अतिशय क्रोध और आगे बढ़ कर साक्षात्
वज्र-सम गर्जन करते हुए उन्होंने किया भयंकर घोष
और बोले "हे दुष्टो ! आज रही क्यों दीप्त तुम्हारे रोष ?

ध्यान कर मुझे बहुत है देव आज तक असुरों के अध्याय
और ज्ञात है मुझको बात कि यह होगा अन्तिम अध्याय !
न समझो सुरगण हैं असमर्थ, जानते नहीं आसुरी युद्ध
या नहीं हैं वैज्ञानिक समर में तुम्हारी ही शक्ति प्रबुद्ध !

कह चला क्यों ही धनु पर बाण चंचला नभ में जगमग उठी
भूमि काँपी थरथराया शून्य उमड़-गगन-धूम छिप उठी !
पवनों के परित पैर दिशाएँ घोर घन दिग्याम
चराचर में व्याकुलता बढ़ी निकलने सभी देह से प्राण !

सभी को अनुभव होने लगा अभी होने वाली है प्रलय
बिना ही अग्नि भस्म हो विश्व जा रहा है निश्चय यह समय !
असुर भी स्तम्भित बन हो गये देखने सब रण की ओर
लगाने लगी सभा प्रति पलक शून्य सूनम से अन्तिम छोर !
मची दस दिशाओं में धूम उछलने लगा सिन्धु का हृदय
पक्षिगण पुष्प बीज उड़ चले मग बने वनचर भी हो सभय !

अचानक समर भूमि में शान-भाव की शुभ्र प्रभा छा गई
निशा होकर माना भयभीत गगन-हीरक-मणियाँ ला गई !
दिखाई दिए तभी सत पुण्य भस्म कर त्रिशूल डमरू लिए,
गले में सर्पमाला शिर गंग व्याघ्र-चर्माम्बर धारण किए-
मध्य में चन्द्राच्छादित शीश-शिखा-जाल छवि शान्तिमय रा-
भाल-भूति भरी हृदय में दया दृष्टि में उमंग बरसाते स्नेह

शेषमय कुण्डल से प्रभा दिशाओं में छिटकाते हुए,
उमापति त्रिशूल-पाणि शिव, सबके मुद-मन मुस्काते हुए !

देखकर सहसा सेवा-सहित प्रेम से सुरेन्द्र-सिर झुक गया
भूल संग्राम सैन्य प्रत्येक पक्ष मूर्च्छित-सा हो रुक गया !
दूसरे ही क्षण घन-गम्भीर गिरा से कहने लगे महेश
"विपत्ति में चाहिए न यों धर्म-नियम को देना भुला सुरेश !

तुम्हें है ज्ञात पुत्र ! सुर-संघ-मध्य यह वैज्ञानिक संग्राम
तथा वैज्ञानिक शस्त्रास्त्रादि से लिया जाता रण में काम !
आत्म रक्षार्थ और समबली के लिए भी है आपद्धर्म
अज्ञ जन पर तो इनका वार किया जाता है घोर कुकर्म !
और सुर तथा मनुष्य के लिए भी स्वरक्षा रण है तब उचित
जबकि शस्त्रास्त्र शक्ति, कौशल योग्यता में अरि हो सम-सज्जित !

क्लान्त निद्रित निरस्त्र तटस्थ रुग्ण निर्बल जन पर आघात
दिखाता है कल्पों तक कष्ट पापियों को रौरव में तात !
उल्लंघन तुम ही करने लगो तात ! यदि इन नियमों का सतत
तो कहाँ कितने क्षण तक स्थिर, रह सकेगा यह मनहर जगत !
लिया है फिर तुमने तो ब्रह्म अस्त्र सारे अस्त्रों का भूपति
गिरा सकता है जो सब सृष्टि पर प्रलय-सदृश महान विपत्ति !

व्यर्थ ही है तात ! यह भी यह बताना तुम्हें,
शक्ति अधिकार बुद्धि-हीनों के न आते !
शक्ति अधिकार के ही साथ है दायित्व बँधा
शक्ति-मद के दुष्परिणाम सब जाने हैं !
इसीलिए शक्ति जितनी हो उतने ही अधिक
मुक्त शक्तिमान सर्व जाते सब माने हैं
इसीलिए भ्रष्ट जन शक्ति दिखाते मैं नहीं,
न्याय शान्ति क्षमा द्वारा जाते पहचान हैं !

यदि सुरराज ! सिन्धु सूखे कोप अग्नि वश
नीति छोड़ दें तो कौन उनके समान है ?
किन्तु नहीं छोड़ते हैं इसीलिए हैं वे अगण्य
शक्ति नहीं तात ! न्याय शक्ति का निशान है !
शत्रु प्रति भी न करता है जो अनीति जिसे
निज शक्तियों का सबसे अधिक ध्यान है
निज मन पर पूर्ण शासन किया है तात
जिसने सुरेश ! वही सच्चा शक्तिमान है !

तात ! नियम यह सत्य इसी में है सुर-गौरव
सजते हैं मर्यादि युक्त पाकर बल-वैभव !
मत्सर्य इस काम क्रोध वश अनय आचरण
नहीं सत्य का तात ! अधम जन का है लक्षण !
सुरपति गद्गद कंठ जोड़कर करते हुए प्रणाम
तनिक दृष्टि न मुख देखते वह चित्रमूर्ति समान
बोले "देव ! क्षमा हो अब फिर न यह भूल होवेगी !
अब न बुद्धि मम कभी पंथ मय विपति न लावेगी !"

सुनते ही वह भूमि हो गई अन्तर्धान गगन में
फल गया तब गई न जाने कहाँ प्रभा वह क्षण में !
क्षण भर रहे सभी स्तम्भित-से फिर सुर लगे समझने
मानो समाधिस्थ योगी के जैसे नयन-पट खुलने !
अथवा स्वप्न भंग होकर ज्यों सहसा निद्रागत जागे
और चकित हो रहे देखकर इधर उधर आगे !
प्रकट हुए तबसे प्रथम सुरपति रूप के कान्ति
और उन्हीं ने ही प्रथम की प्रभु निज स्तुति !

वे सब भिन्न लक्षण जयन्त को घेरे में ले आए;
और त्वरा से फिर पर भिन्न सेना की दिशा बढ़ाए।
सुरपति लगे उसी भुज-बल से सीधा मार्ग बनाते
क्षण-क्षण में शतशः अरि-सेना को यमपुर पहुँचाते।
देख असुर भी पिता-पुत्र को यों हाथों से जाते
लगे बखान भिन्न-भिन्न सेना अधिप हुए, बल खाते।
कहा सैनिकों से "यह सब भी सुर मंत्रों की माया
इसी बात से जयन्त को है सुरेन्द्र ने ले पाया।
है धिक्कार, वीर सेना में इन्द्र अकेला पाकर
भाग आ रहा है जयन्त को निर्भय बना उठाकर !"
परन्तु सुरपति उसी विधि अरि को देते मात
पहुँच गए स्व पुत्र को सुर-वाहन-प्रासाद!
असुर विजय की लालसा छोड़ अब व्यापार
करने लगे जयन्त के घावादि का उपचार।
इससे छिपे हुए असुरों को बड़ा और भी रोष
लगे और वे देने इसके लिए परस्पर दोष।
कई लगे देने ए एक भिन्न सेना को धिक्कार
कई लगे असुराधिप पर करने दुर्वच बौछार।
फिर उनके मन पर प्रतिहिंसा ने अधिकार जमाया
और पराजय की लज्जा ने उन्हें अधिक भड़काया।
वैसे भी जयन्त वालों के दुत्कारा जाने से
और इन्द्र के जयन्त को ले रण से हट जाने से।
पाना अभी सहज ही असुरों को फिर जय पाने की
एक बार फिर सुर-दल में भय दहशत फैलाने की।

इसीलिए वे सबे सैनिकों में उत्साह जगाने
विजय प्राप्ति के अवसर के कल्पित उद्यान दिखाने !
भोले सैनिक भी दलपतियों की बातों में भूले
विजय प्राप्ति की आशा बँधते ही सबके मुख फूले !
फिर वे जयघोषों से रह-रह नभ को लगे कँपाने
नवोत्साह में फिर युग दल में लगे बाण चढ़ाने !

इसी समय कुछ यह था पहुँचे रण में हाथ बटाने
राष्ट्र-वीर पर निज श्रद्धा-मय के शुचि सुमन चढ़ाने !

सूर्यदेव तो प्रथम लोक-यात्रा में लगे हुए थे
एवं शशि निज दमीमी[1] के रंग में रंगे हुए थे !
बहु विहङ्ग-गण-नभी विचर यह युद्ध न कर सकते थे
हाँ सुर-सेना के पथ से तम बाधा हर सकते थे !

बस संगम ही सबको प्रथम मेल को छट सजाता हुआ
दूने सभा मन भी मस्त "हूँ मैं क्यों क्यों !" दुहराता हुआ !
देखकर हँसि असुरगण वीर, व्यंग्य गिन गिनकर कसने लगे
देख पुन भीम बल उठा व्यंग्य उसे वृश्चिक-सम डसने लगे !
सुरप ने ताड़ लिया यह भाव यों किया सैनिक गण को विरत
किन्तु अब व कर संभव भीम-हृदय के घाव यों भरते सुरप ?

पर हो कंपित उठा भर बाण लिया संयम ने दग्ध गात्र
एक क्षण में कर हार-चीत्कार शत्रु दल में घनिष्ठ भय भरा !
चला यों भाँति पंक्ति की पंक्ति देखने लगे भीम के बाण
दूर घन-लहरा की तरह भर चले समुद्र में भरि बाण !

---

1 दमीस पक्षियों (काग)

भ्रम-प्रसमवत् उसकी पर बार बहा ले चली असुर दल साथ
डगमगा मोते लागे सभा असुर सेना का युद्ध प्रहार !
मेष भी असुरों को कर मात मचाने लगा दलों में धूम
साथ ही हार के उनके शृंग धाम का हुए लेते थे चूम !

देख यह स्वहास्य का परिणाम सभी पर करने पश्चाताप
किन्तु था व्यर्थ पीटना लीक चला अब गया हाथ से साँप !
पर कर क्या न और क्या करें ? मूकता था उनको यह भी न
अमर थे पर न भाग्य था उन्हें मारना या करना बलहीन !

तब कुछ सोच असुर सेनापतियों ने रच नव अभिनय
रूप भेड़ियों के धर रिपु-दल में फैलाया अति भय !
देख मेष जलाहीन हो लगा हिचक भय खाने
एक बार-बार भय चलने की इच्छा दिखलाने !
गमक भीम के लक्ष भेड़ियों को कर पर फटकारे,
लगे भड़िये भगने लै-ले पानी प्राण बिचारे !

किन्तु इसी क्षण एक दूसरा असुर भेड़िया बनकर
पीछे से आ गिरा मेष पर प्रबल मेघ गर्जन कर !
दुष्पत प्राण मेष के पग वह भाग चला सुर-दल में
तब भीष गिरा मनन को दिया असुर ने पग में !
हा-हाकार मचा मंडल की ओर लगे सुर भागने
उधर असुर भी लगे पटा-गण पद पद धुन उगाने !
ोर राजु ने तुरत केतु को निज रथ में बैठाया
ोर ■ फिर हो गरुड़ों में आये लौट बताया !

राहु-सारथी सदा अरुण रथ की गति तीव्र बनाते
तथा केतु दोनों हाथों से लगा कृपाण चलाते ।
छिड़ा युद्ध फिर नए जोश में असुर-चमू घबराई
किस विधि लड़े अमर ग्रहों से मनुज व्यक्ति सदा ?

हुई कठिनता एक भगा तो प्रबल दूसरा आया
उग्र भगाया तो हाथी से भास्कर पर जमाया !
चरण चमन ही गगन भाल-गुण लोक-लाप मग करत
भीत सैनिकों के हृदयों में और अधिक भय भरते ।
असुर सभी सोचन लगे किस विधि हो छुटकारा ?
बोला एक "राहु का मित्र पहले बन्धु हमारा !

अब उसे यह भार दिया फिर अपनी बार निभाया
जिसे भड़काया तो सुर-दल में दूना बैर बढ़ाया ।
तनिक मुड़ा तो सुरगण का उठ जाएगा विश्वास
बिना युद्ध ही इस प्रकार होवेगा रिपु का नाश !"
कहा मुख्य ने "किन्तु काम यह अपना बहुत कठिन है !
उसका सुर दूतों में रहने बीच बसा जीवन है !"
प्रस्तावक ने कहा है प्रयत्न में क्या हानि ?
क्षण एक में किया उठ राहु ने प्रस्थान !

जा परिचय करके फिर बोला असुर दल में हँसकर,
क्यों हो असुरों से करते रण अमे सुख पाकर ?
भूल गए क्या तुम्हीं सुरों के छल का ना था वश है
कि है पूजक यह चाह सुनता फिर पर कुल विकल है !
फिर भी उन्हें बने सुनाता के सुख उनके घर में
पर असुर-वर जा आनुपता बन भाग हो पर में !

दंभ से भी बाद हुआ हष्टि का प्रभाव परि—
वस-वृन्द लगे त्राहि त्राहि क्यों पुकारने
घूम गईं आँखें जिस ओर जब ओर वसु
ही गया लगे मन मन दुःख भी विचारने ।

वृषभ शृंग की मार से उधर भग चले श्वान
फिर धेनु भी वृषभ ने फिर छेड़ा घमसान ।
आई असुरों के लिए फिर चिन्ता की रात
लगे सोचने वे पुनः कुछ नूतन उत्पात ।

अन्त में उन्होंने उसी नीति का प्रयोग कर
सिंह बन आरी रणभूमि में मचाया शोर,
देख अग्नि-वृषभ उठाए पूँछ भाग चला
यद्यपि मचाया अग्नि देव ने बहुत जोर ।
वसु हँस उठे देख कम्पित मृगेश लख
दूर अग्नि फरसा उठाए बढ़े वसु-ओर
अवसर देख रिपुओं ने भी बनाया वाम
पर अग्निदेव को छिपा दिया अमर घोर ।

देख दशा यह क्रुद्ध हो हो निज धनु सम्हार,
तीक्ष्ण दंभ की गुफा ने सिंह-शरण हुँकार ।
और दूसरे क्षण पड़ा था परिरम्भ के बीच
ज्यों अवसर-वश पद लग गया मिलाने नीच ।

उधर बढ़ाया वृष ने भी पाँव अपना शृंग-
देख सामने लगे निःदूरी सब दृग-ओझल गूँज ।

कुपित हुए सारे ग्रह मिलकर लगे मचाने द्वन्द्व
घूम चले असुरों के दलपति सब भीषण-दम-छन्द !

भीम-केतु-शनि सब अब वाहन पा फिर हृदय कँपाते
लगे घूमने ज्यों गयन्द तृण कुसुम का नाम मिटाते !
इसी समय सुरपति ने आकर की रण में ललकार
सुनकर मानो हुआ सैन्य में विद्युत का संचार !

वज्र-गर्जना कर सुरदल ने कँपा दिया रणस्थल
चकित दृष्टि से लगे देखने नभ के सारों नेत्र !
फिर शस्त्रों की झनझनाहट सुन बढ़ने लगीं उमंगें
रह रह लगी वीर हृदयों में उठने रौद्र तरंगें !

सुन निज सेना विकल उधर आगया असुरपति-मंत्री
सुनकर जिसकी हाक बज उठी असुरों की हृद-तंत्री !
भीम-गर्जना कर उसने भी असुरों को ललकारा
बोला, "जो सुर छिप उठते हैं सुनकर नाम तुम्हारा
उनके सम्मुख होते हो तुम यों बल-विकल अधीर ?
लगो मार ! दुष्ट भार के हो कायरतावंशी वीर !

लगे शिलाधारित प्रहार करने सब भयानक
लगी अग्नि की लपट प्रगल्भ रण में कहीं अचानक !
कहीं बरसने लगी अमित पाषाणों की कहीं फुहार
कहीं लगी उल्कों की वर्षा करने भय-संचार !

पकड़ा हाथ दिखाई देना कठिन होगया जब तो
उभार लगा करकर उड़ने से मैमिक-बाहन था !

इस प्रकार असुरों ने सारा सुरदल पड़ा विपत्ति में
घूम गए यह प्राण भी सारी इति-गति इस दुर्गति में।
सभी दिशाओं में रिपु करने लगे मुखित किलकारी
बढ़ने लगी चमू असुरों की भर-भर फिर हुंकारी।

बना तभी उस युद्ध में एक नवीन बनाव
बदल चले मचकर जिसे असुरों तक के भाव।

सुरथ और बुध मध्य छिड़ा था कुसुम बाण-संग्राम
दोनों प्रथम धनुर्धारी थे दोनों थे बलधाम।
छल बल किए, न पर कोई भी अरि पर जय पाता था
दोनों दिशा बाण जो आता वह ही कट जाता था।
अतः सुरथ का गज कुपित हो बुध ने बींध गिराया
एवं यह आघात सुरथ की दृष्टि में नहीं आया।
फलतः गज के साथ-साथ ही सुरथ गिरा भूतल पर
देख उधर बुध भी आ पहुँचा निकट तुरन्त उछलकर।
और सुरथ सम्हले तब तक वह आ बैठा छाती पर
गज उठे सुर भी लख बुध को चढ़ बैठे छाती पर।
हा-हाकार मचा असुरों में हुआ भीति-संचार
उधर कंप पर कर धर, करते हुए वीर हुंकार
बुध ने कहा सुरथ से अब हो मरने को तैयार
या प्रण कर फिर न लेगा फिर सुरगण विरुद्ध हथियार।
कहा सुरथ ने भी तैयार हूँ मैं हाँ करो प्रहार
आशा करो न मैं कोई अब झुका हो लाचार।
सुन लघोध ने खंग दिवाकर-सुत ने हाथ उठाया
किन्तु तभी धरा व्यथित ने हँ-हँ कर बुध को चकराया।

नृप ने शून्य दिया देखा तब बोले 'क्या करते हो ?
पतित शत्रु पर शस्त्र उठा जीवन में भय भरते हो ?

क्षणिक लाभ के लिए यों तज स्वधर्म की राह
क्या लाँघे सुर-नाम पर, प्रिय तुम अमर कलङ्क ?

फिर क्या यह गौरव पुरुष का है इस नय के योग्य ?
सोचो ! इस विधि बनते हो तुम कायरता के भाग्य !

मन गहरा मानो नृप को भी सुनीति की स्मृति आई
तब मन में शूल समझ, निज नीची दृष्टि झुकाई !
क्षण भर चुप रह बोला 'मुझको क्षमा करें हो क्रुद्ध
भूल गया था मैं कि आचरण है यह नीति-विरुद्ध !"

फिर धनि मन कर, निज कर था दे शूर पुरुष का आशय
उठा कहा "निज दल में जाओ वीर भले ही निर्भय !

भूल जाइये इस अभिनय को जो था रोषाधीन
वैसे सुरगण से पाएँगे असुर अनीति कभी न'
हाँ यह विचारने का समय है फिर आज तुम्हारे
कि है कहाँ तक उचित भाव का युद्ध विरुद्ध हमारे !
जो वीरत्व दिखाया है तुमने इस अन्तिम प्रहर में
क्या है शोभायह उसका उपयोग अनीति-समर में ?

इतना सोचे बार असुर पारोशा हो फिर पाना
एवं अपनी सेना असुर की मन भर शूर सुमाना !

सुरप ! नहीं है देवगण को निज प्यारी
स्वतन्त्रता स्वार्थ विजय है यह अपारी

अन्यथा न है शेष उपाय हमको असुरों से
रण में भी न मिलेगी तुमको अभय सुरों से ।
असुर करें चाहे कपट सुर बरतेंगे नीति ही
सुर करते हैं समर भी अरि प्रति रखकर प्रीति ही ।"

सुन पद-नत हो सुरप ने नृप से कहा सप्रीति
'भय न कर सकी भी जिसे सुर-सेना की भीति !

सुर सेना की नीति और सकाम-कुशलता
जीत सकी है उसे आपकी धर्म-अटलता ।
मित्र ! न अब से सुरप अभय का भागी होगा
इस रण में भी वह छल-भय का त्यागी होगा ।

रण सेना में अभी पर, किन्तु नहीं है धर्म
बीच युद्ध में छोड़ना अपना स्वीकृत कर्म ।"
कह प्रणाम कर वह गया निज सेना की ओर
नृप भी आगे को बढ़ा सुन होता युध ओर ।

देखा भिन्न-भिन्न असुर ने यह नृप-सुरप प्रसंग
उन सब ही पर चढ़ गया इस नव-भय का रंग ।
निश्चय करने लगे हैं उनके जो श्रम-नीति
गर्व करने को अमर सत्य-सहित उन भीति ।

किन्तु इसी क्षण उस दल था की मंत्री ने हुँकार
जिसे देख मानो असुरों पर बरसी अमृत-फुहार ।
फिर आसुरी भाव ने उनपर था अधिकार जमाया
फिर विद्रूपता उनके हृदयों में नव-बल भर आया ।

द्विगुण वेग से वे मुरदल पर लगे आक्रमण करने
धम-धम बम तोपों से उनके लगी भूमि थर्राने !

उधर इन्द्र भी मानो पाकर विद्युत से सन्देश
था पहुँच रक्ताक्त परिध से मानो कुपित सुरेश !

कर गर्जन अरिदल पर टूट, बढ़ा सुरों में ताप
मारामार मची सब सैनिक बढ़ किए आक्रोश !
बढ़ी रण में बस कटारें करने लगीं विहार
जभी "छिन्नमस्ता" धड़्-धड़् कर भरती रण हुंकार !

विकट हो गयी रण-दशा भिड़ गयी प्राण ठान
या तो पाएँगे विजय या दे देंगे प्राण !

उधर युद्ध की भूमि सभी करने समर विहार
देख जिसे स्थिर हो रहा पवन भूल संचार !

करके हुंकार युद्ध नहीं तलवार मानो
तड़ित घनों को भिन्न तीव्रता दिखाने लगी
सब योद्धा की तीक्ष्ण दृष्टि को सजाती भेद
सैकड़ों सिरों को बिन भूतल मिलाने लगी !
स्वामियों की सिफला-सी माया की विचित्रता-सी
मुस्काती जो मिला उसे ही मार गिराने लगी
कालसमा जैसी काल गाल जिसमें हुन्य
लगी उस ही को काल गाल में बसाने लगी !

देख युद्ध-लग्न भी बड़े प्रसन्न पुष्प-माल
गर्जना से भूमि पर गह थरराने लगी
राजपुता की धार बही हुई हाथियों की सेना
मध्य दौड़ धरा को परिक्रमा बनाने लगी !

गजों की चिंघार, खनकार रथ-आंकुरों की
ऊँटों की घमस ध्वनि अम्बर हिलाने लगी
देख यूथ गजों की अगम्य पंक्तियों को मन
भीत पारवती गजराज को छिपाने लगी।
खनखनार घोड़ा पड़ते ही रण की छिब्बिछ—
रक्षा होना ही दलों की दृष्टि मध्य आने लगी
भीषण भयावनी विभीषिकाओं से अपूर्व
युद्ध भूमि भीरुओं का हृदय कँपाने लगी।
शत्रु-सैन्य देख गयी दिशाएँ में सुर-भीत
विजय की आशा छोड़ जीवन बचाने लगी
चाव जिन शत्रु का सदा नहीं बचाती पांख
देवों को मनाती मौ-हो-न्यारह मनाने लगी।

ऐसे ही समय पास-पास के प्रदेश में से
जुटे युवावृन्द वीर वेश में सजे-सजाए
मातृभूमि रक्षणार्थ युद्ध में बढ़ाने हाथ
उमगित चित्त गुरुदेव के निकट आए।
गुरु जानते ही वे दशा को युद्ध-क्षेत्र की वह
देख इस सैन्य को प्रसन्न हुए, मुसकाए
बने वह स्वयं दलाधीश और सैनिकों को
व्यूह-बद्ध किए शत्रु-शिविरों की ओर धाए।
इनमें थे अभिराम युवा वे जिन्हें प्रमत्त गिनाकर,
भ्रष्ट बनाया था जिन में असुरों ने विषम बनाकर।
था जिनके दुःख भस्म हुए थे रूप के व्यक्ति मरे थे
दमीनिया असुर। अति उनमें शक्ति भार भरे थे।

अकस्मात् गुरु-सैन्य का, यह अचिन्त्य आघात
असुर-सैन्य के लिए था अनभ्र विद्युत-पात !

इसीलिए ऐसा कल्पना-विरुद्ध आया वेग
दुर्दान्त वीर-वीरों का भी धैर्य छूट गया
यौवन-विवाहिता-सुहाग सम दैत्य भाग्य
भाग्य रवि आगमन के प्रथम ही फूट गया !
टूट गई शृंखला विशृंखल हो भागे सब
ज्यों प्रपूर्ण ताल का विशाल बाँध टूट गया
सभी अब कोसने विधाता को विक्षुब्ध हुए,
जो था कल तो प्रसन्न और आज रूठ गया !
भागे विपन्न भयभीत अरि, जिसको जिधर की धुन लगी
ज्यों देख दावानल-ग्रसित वन हरिण-श्रेणी उठ भगी !
आगे असुर पीछे सुरों का दल चला ललकारता
ज्वालामुखी से ज्यों प्रबल लावा चला फुंकारता !

अरि भाग चले निज शिविर छोड़ वर्षा-नद-जल ज्यों कूल तोड़ !
रह गए सभी संग्राम साज, धारानी, हय गज रथ बाजि !
सुन्दर वितान उड़ते निशान अस्त्रालय शस्त्रालय विमान !
हय मान-हीन, हयहीन यान मणि रत्न-भार सुर स्वाभिमान !
भागे कोई पर आयु वय कालीन लगा करते महेश !
कोई थे संभ्रम भँवर राग बन गए महारव या सवाल !
कोई कुम्हार, कोई चमार, कोई धोबी कोई सुनार !
कुछ बने मृग कुछ दासदास कुछ भाँड भाट कुछ चोर-श्याम !
कुछ वैरागी कुछ और नाग कुछ बनी मागध भट्ट व्याध !
कुछ बने नाग व राह मैं कुछ बने करतल का मेन रैन !

कुछ गज-पृष्ठों पर चढ़े भाग, कुछ छिपे वनों में प्रण त्याग।
कुछ मृग झुंडों में गए बैठ; कुछ पेट बढ़ा बन गए ऐंठ।
कुछ निर्बल साथी को उतार, उसके वाहन पर हो सवार।
सब चले जिधर का बना ध्यान, सब का न दिशा का रहा ज्ञान।

कुछ चल पड़े सुर-रथ पर, पकड़े पड़े ललकारते
निज सैन्य को सेनानियों को नृपति को धिक्कारते।
जय देवगण की इन्द्र की सुरेश की उच्चारते
मन में सुरों को शाप देते और मनमन मारते।

हिरण्यकश्यप गजारूढ़ हो भाग रहा था
वायु-वेग से सुर-सीमा को त्याग रहा था
पीछे-पीछे एक यान में थी प्रभु रानी
जिसको घेरे हुए चल रहे थे सेनानी।
साथ-साथ जा रही थी एक और भी पालकी
पर सकती थी जो नहीं समता पल भी चाल की।

रण ही में थी गर्भवती पद्मावति विदुषी
विश्व विदित प्रह्लाद भक्त की माँ नृप-महिषी
रानी ने नृप हिरण्यकश्यप को बुलवाकर,
कहा प्रेम युत 'आप प्रजा पर आश्रित दया कर
मुझे छोड़ सुर-सीम से सत्वर पार हो जाइए
मेरे लिए न रंच भी द्विविधा मन में लाइए।
मैं यदि रिपु के हाथ बन्दिनी हो जाऊँगी
तो भी निश्चय है न कष्ट कुछ भी पाऊँगी
परमार्थों को कभी देवगण नहीं सताते
और बन्दियों को तो भय भी नहीं दिखाते।

अतः आप निश्चिंत हो निज पथ पर आगे बढ़ें
ऐसा न हो कि भागकर भी अरि के हस्त चढ़ें !"

इसी समय बेहाल बने कुछ सैनिक आए,
सुर सेना के आने के सम्वाद सुनाए;
निरुपाय नृप ने शून्य दिशा निज दृष्टि उठाई
प्रथम बार जीवन में स्मृति ईश्वर की आई !

रानी मुसकाई, नृपति सज्जित हो निज गज पर
पूर्ण वेग से पालकी छोड़ वहीं आगे बढ़े !

किन्तु भागकर भी न असुरपति सुरगण से बच पाया
सुर-सेना की एक चमू ने आ ही उसे दबाया !
देख असुरपति के साथी निज प्राण बचाकर भागे
हिरण्यकश्यप सहित वहाँ के वहीं अस्त्र सब त्यागे !
कोई चढ़ा वृक्ष पर कोई छिपा भाग झाड़ी में
कोई बैठ गया चुपचुप हो किसी गर्त-खाड़ी में !

अन्तिम समय असुरेश का छोड़ चले सब हाथ
मृत्यु समय ज्यों भूमि-धन तज देते हैं साथ !

उधर शान्ति का बना हुआ नृपरत्न भ्रमित-सा होकर
इसी स्थान के निकट आ रहा था मन चिन्ता खोकर !
कभी कभी वह रश्मि दलों के बर स्पर्श न पाकर;
देख रहा था सुन्दर वासन्ती किरणों का भू पर !

खेल रहे थे कहीं मृगादिक, कहीं कहीं अनेक
पी-पी करके गुंजा रहा था शून्य पपीहा एक !

देख सामने हिरण्यकश्यप को अतिशय अकुलाता
गया हुआ नृपरत्न तुरत अतिशय होता कुछ घबराता

कुछ वन-वृक्षों पर चढ़े भाग कुछ छिपे वनों में पन्थ त्याग !
कुछ मृत ढेरों में गए पैठ, कुछ पेट बढ़ा बन गए सेठ !
कुछ निर्बल साथी को उतार, उसके वाहन पर हो सवार !
भग चले जिधर का देखा ध्यान पथ का न दिशा का रहा ज्ञान !

कुछ वस धरे सुर-रूप धर, पकड़ा गये ललकारते;
निज सैन्य को सेनानियों को, नृपति को धिक्कारते !
जय देवपत की इन्द्र की सुरदेव की उच्चारते
मन में सुरों को शाप देते और असमय मारते !

हिरण्यकश्यप भयाक्रान्त हो भाग रहा था
वायु-वेग से सुर-सीमा को त्याग रहा था
पीछे-पीछे एक यान में थी लघु रानी
जिसको घेरे हुए चल रहे थे सेनानी !
ताप-भार पा रही थी एक ओर भी वासवी
कर सकती थी जो नहीं समता नभ की चाल की !

इन ही में थी गर्भवती कल्याणवति विदुषी
विश्व विदित प्रह्लाद भक्त की मां गुण-महिषी
रानी ने नृप हिरण्यकश्यप को बुलवाकर
कहा प्रेम युत "आप प्रजा पर अमित कृपा कर
मुझे छोड़ सुर-सीम से सत्वर पार हो जाइए;
मेरे लिए न रंच भी चिन्ता मन में लाइए !

मैं यदि रिपु के हाथ बन्दिनी हो जाऊंगी
तो भी निश्चय है न कष्ट कुछ भी पाऊंगी
अबलाओं को कभी देवगण नहीं सताते
और बन्दियों को तो भय भी नहीं दिखाते !

यह भार निश्चित हो निज पथ पर पाँव बढ़ें
ऐसा न हो कि भागकर भी अरि के हत्थे चढ़ें !"

इसी समय बेहाल बने कुछ सैनिक आए,
सुर सेना के पास के समाचार सुनाए,
निराश हुए से शून्य दिशा निज दृष्टि उठाई
प्रथम बार जीवन में स्मृति ईश्वर की आई !
राना सुसराई सुरपति सज्जित हो निज रथ पर
पूर्ण वेग से भागा छोड़ यही आगे का !

किन्तु भागकर भी न असुरपति सुरदल से बच पाया
सुर सेना की एक चमू ने आ ही उसे दबाया !
देख असुरपति के साथी निज प्राण बचाकर भागे
हिरण्यकश्यप सहित जहाँ के तहाँ शस्त्र सब त्यागे !
कोई पड़ा हुआ पथ पर, कोई छिपा पास झाड़ी में
कोई बैठ गया दुबक हो किसी खंड-गारी में !
कठिन समय असुरों का छाए बने सब हाय
मृत्यु समय ज्यों भूमि पर नत भये हैं साथ !

उधर गर्भ का बढ़ा हुआ कुम्हला अमित-सा होकर
इसी स्थान के निकट सो रही थी सर बिछा गाहर !
कभी कभी का रुदित दशा दे कर स्वर्गों से उतरकर
देख रहा था शून्य कामचारी किरणों को भू पर !
नाग रो पड़े हर्ष मदांकित पक्षी कहीं चकोर
वीणा बजा कु दा नाद का झूमा पहिला छोर !

देख सामने हिरण्यकश्यप की पत्नी सुकुमारा
खड़ा हुआ कुम्हला हुआ वंदन होता हुए पसारा

फिर पूछा क्यों आप अकेले यहाँ किस तरह आए ?
असुरराज ने भी बिन बोले सुर-सैनिक दिखलाए।
देख सभी वृषवन्त को न कुछ देर समझने में सब
उसने कहा "आप इस भाड़ी में छुप हो बैठें अब।
मैं जाता हूँ प्रभु से करने दो-दो बात
भाया है हूँगा सफल बिना घात प्रतिघात।
पर असफल यदि रहा तो फिर होगा युद्ध
तब तक सेना आप कर कुछ रक्षार्थ प्रबन्ध।"
यह उसने धारण किया अपना सैनिक वेष
देख असुरपति-हृदय भी पाया कुछ आवेश।
बोले "ऐसा हो तो न रुकना एकाकी रण-धर में
बैठेंगे दोनों मिलकर ही आज समर में।
या तो दोनों अब निकलेंगे या होंगे नष्ट ढेर,
उफ ! कहते हैं अब हम ही को भाग्य-चक्र का फेर।
यही भाव था कम एवं अब भी है वही प्रभाव
किन्तु बना है यह असुरों के लिए क्षमा की धन।
जिन्हें दिखाई गुफा अब वह है प्रभु तब मरने को
और दुलाया जिसे—वह तुम्ही हो प्रस्तुत मरने को।
सच है बड़भागी ही देते हैं बढ़ बल में काम
अनुभवी ही करती है वस्तु-युक्त पर्व संग्राम।"
संकुचित हो वृषवन्त ने कहा "अब प्रभु ने पाया है
भारी आयु आपको क्षमा कर गया-आया है।
यदि हम आयु न काम आया तो फिर किस दिन आऊँगा ?"
फिर बोला "रण में तो मैं अकेले ही जाऊँगा।

मेरे रहते पहुँच गई यदि स्वामी को कुछ हानि
तो हो जाएगा मेरा जीवन व्यर्थ समान !

अतः आप तो रण छिड़ते ही भाग पैर बढ़ाएँ,
कोई रक्षा स्थान देखकर अपने प्राण बचाएँ !
मेरे लिए न चिन्ता कीजे सदा सत्य के बल से
मैं निश्चय रोकूँगा तब तक अरि को रण-कौशल से !"

कह लेकर शर चाप बढ़ा वह सुर-सेना की ओर
चला आ रहा था सुर-दल भी करता गर्जन घोर !
देख-सोच वृषदन्त मार्ग में चढ़कर ऊँचे स्थल पर
राह देखने लगा शत्रु आने की निम्न भूतल पर !

किन्तु सुरों ने देख लिया उसको एवं चकित हो
भेजा एक सैन्यनायक को जो सब भेद विदित हो !
नायक ने आ निकट देख पूछा दलपति का नाम
पर बोला वृषदन्त तुम्हें इन बातों से क्या काम ?
नायक बोला अभी स्वयं को आया है दनुजेश
फिर से सुरगण को कुछ भाया ढंग तुम्हारा वेश !
पर बोला वृषदन्त किन्तु इससे क्या ? क्या डरते हो ?
तुम सुर होकर भगे शत्रु का पीछा क्यों करते हो ?
सत्यनिष्ठ सुरगण पड़ गया यह सुन असमंजस में
सोचा सच तो है हम हैं सचमुच विचार के वश में !
इसी समय सुर-सेनापति भी पहुँच निकट अनुगामी
था बोला "क्या पथ रोका है तुमने मंजिल-गामी ?

क्या है तुमको भीति सभी निज प्राणों के जाने की
अथवा यदि हो बाट देखते वे सुर-दल आने की ?
यदि हो पथिक भले आओ मैं सम्य साथ देता हूँ
इस दायित्व स्वर्ग-सीमा मे रक्षण का लेता हूँ ।
यदि हो शत्रु, तो प्रकट होकर निज शस्त्रास्त्र सम्हालो
रण करने के अपने मन के सब अरमान निकालो ।
किन्तु अकेले हो न यत हो जब तक समुचित कारण
तब तक सुर न करेंगे शस्त्र विरुद्ध तुम्हारे धारण ।
सुन स्वभावतः वह विनय हो सुर-दलपति से बोला
भेद आपके सहचर पर मैंने न है अभी खोला ।
किन्तु जब मुझे देख अकेला अथवा निज निरुपाय
आप समझते हैं मुझपर प्रहार करना अन्याय
तब फिर भले शत्रु का चीन्ह है क्या यह पर-मार ?
सुर हो क्यों है किया आपने असुर-नाम स्वीकार ?
वीरश्रेष्ठ ! मैं हूँ वास्तव में असुरराज का अनुचर
गर्व बैठा हूँ इस वन पर आज यही निश्चय कर
कि जो न सुरगण न्याय-युक्त मेरी अनुनय को मानें
एवं असुरराज का पीछा ही करना भी ठानें
तो फिर डटकर यहीं प्राणपण से संग्राम मचाऊँ
हूँ मैं असुर तथापि सुरों को आज स्वधर्म सिखाऊँ ।
अब आप या तो अपनी सेना को ले फिर जायें
अथवा वापस जा उनको सुझाव सुगम बतायें ।
जाने दूँगा मैं न आपको पर तिल भर भी आगे
[illegible]मा न दम में दम रहते चाहे सुरगण आवें ।

यदि रण ही करना हो तो फिर आओ करो तयारी
एक-एक कर युद्ध करो या मिलकर सेना सारी !

तुम असंख्य, मैं एक हूं तुम विजयी, मैं भीत
फिर भी देखें चण्डिका देवे किसको जीत ?
हाँ बजने दो दुंदुभी छिड़ने दो रणगीत
सत्य बली है या कि बल कर लें आज प्रतीति !

फिर बोला 'यह भी न करें भय कि तम यदि छायेगा
सुर गण का कृतघ्न आसुरी रण कर दहलायेगा !
बीत गया वह समय आज जब दम मुझसे पाता था
अब मुझको सर्वों प्रति कौशल में मार्तण्ड माना था !
अब मैं तुम जिस रण से परिचित हो वह युद्ध थक गया
शान्त हुए पर इस जीवन में दर-दिन फिर न सकता !"

सुन सुर इन्द्रादि चकित हो बोला "क्या कृतघ्न ?
किया दैत्यपति पुरी न था जिसने रण मग्न ?
जिस अनुरक्ति से लिया था प्राणान्तक दण्ड ?
मुख्य-युक्ति ही रण गयी जिससे देह प्रचण्ड ?"

कृतघ्न भी चकित हुआ यह देख कि सारी बात
है सुर-सेना एवं इन्द्रादि को अवगत ज्ञात !
तथा सगर्व कहा हाँ हूँ मैं वही सुत कृतघ्न
और मुझे है गर्व उस दानव का करने पर दमन !

सुर इन्द्रादि ने कहा और फिर की अनुनय-विनय
क्या हो तुम रण के लोभी पाना जीवन व्यर्थ ?
कृतघ्न ने कहा 'धर्म का तब निज पर पर पड़ना
और धर्म है रण रण में लगाई दम्भ हो भड़ना !

क्या है तुमको भीति अभी निज प्राणों के जाने की;
अथवा यदि हो बाट देखते के सुर-दल आने की ?
यदि हो पथिक चले जाओ मैं अभय दान देता हूँ
सब वाणिज स्वर्ग-सीमा में रक्षण का लेता हूँ !
यदि हो शत्रु, तो प्रकट होकर निज अस्त्रास्त्र सम्हालो
रण करने के अपने मन के सब अरमान निकालो !
किन्तु मुझसे हो न भ्रान्त हो जब तक समुचित कारण
तब तक सुर न करेंगे अस्त्र विरुद्ध तुम्हारे धारण !"
सुन स्वागत वह विनम्र हो सुर-सेनापति से बोला
"भेद आपके सहचर पर मैंने न है अभी खोला !
किन्तु जब मुझे देख अकेला अथवा बिन निरुपाय
आप समझते हैं मुझपर प्रहार करना अन्याय
तब फिर भये शत्रु के पीछे है क्या यह पर-भार ?
सुर हो क्यों है किया आपने असुर-नाम स्वीकार ?
वीरश्रेष्ठ ! मैं हूँ वास्तव में असुरराज का अनुचर
एवं बैठा हूँ इस वृक्ष पर आज यही निश्चय कर
कि या न सुरगण न्याय-युक्त मेरी अनुनय को मानें
एवं असुरराज का पीछा भी करने की ठानें
तो फिर डटकर यहीं प्राणप्रण से संग्राम मचाऊँ
हूँ मैं असुर तथापि सुरों को आज स्वधर्म सिखाऊँ !
अतः आप या तो अपनी सेना को ले फिर जाएँ
अथवा धारण कर उसको युद्धार्थ सुसज्ज बनाएँ !
जाने दूँगा मैं न आपको अब तिल भर भी आगे
है ना न दम में दम रहते चाहे भूतल भागे !

यदि रण ही करना हो तो फिर आओ करो तयारी
एक-एक कर युद्ध करो या मिलकर सेना सारी !

तुम सहस्र, मैं एक हूँ तुम विजयी मैं भीत
फिर भी देखें चण्डिका देवे किसको जीत ?
हाँ बजने दो दुंदुभी छिड़ने दो रणगीत
सत्य बसी है या कि बस कर में आज प्रतीति ।

फिर बोला "यह भी न करें भय कि तम आदि छाएगा
सुर मन को वृत्रासुर आसुरी रण कर दहलाएगा !
बीत गया वह समय आज जब दम मुझमें आता था
जब मुझको असुरों प्रति कौशल में आनंद आता था ।
अब मैं तुम जिस रण से परिचित हो वह युद्ध कब का
मात हुए पर इस जीवन में दम-विष फिर न भरका !"

सुन सुर-दलपति चकित हो बोला "क्या वृत्रासुर ?
किया देवगणि पुरी में था जिसने रण चण्ड ?
जिसे पशुपति ने दिया था प्राणान्तक दण्ड ?
गुरुप-मुक्ति ही रण बनी जिसकी देह प्रचण्ड ?

वृत्रासुर भी चकित हुआ यह देख कि सारी बात
है सुर-सेना एवं इन्द्रपति को अवगत ज्ञात !
तथा तत्क्षण कहा हाँ हूँ मैं वही तुच्छ वृत्रासुर ,
और मुझे है गर्व उस समय का करने पर अन्त !

सुर इन्द्रपति ने कहा और फिर भी असुराधिप-गर्व
प्राण हा! तुम रण में लाने अपना यौवन व्यर्थ ?
वृत्रासुर ने कहा "गर्व का मद जिस मन पर चढ़ना
और गर्व है इस तरह सुर ग्रासार्थ प्रस्तुत हो बढ़ना !

सभी वीरवर ! जग में निज-निज कृति का फल पाते हैं
मत मूर्ख हैं वे जन जो पर की कृति पर जाते हैं !"

दलपति बोला पापी का रक्षण भी है मम रक्षण
वृषभदत्त ने कहा 'ठीक है यद्यपि ये भी सलक्षण
किन्तु प्रथम तो है यह इस साथ विरत सभी बातों से
फिर है कुछ सम्बन्ध न मम रक्षा का नवघातों से ।

नृप ने है सहाय माँगी है मैंने की स्वीकार
निश्चय है यह भी कि कार्य मेरा है मत-अनुसार !
फिर प्रभु मैं भागी होना था प्रोत्साहन अविहित है
दोषी की रक्षा संस्कृति तो प्रायः सदा उचित है !
अतः चाहता नहीं देखना मैं नृप के कृत-कर्म !
मुझे देखना है यह क्या है इस क्षण मेरा धर्म ?"

सुन सुर-दलपति मुदित हो बोला "दलपति वर्य !
असुरों में यह धर्म-बुद्धि है सचमुच आश्चर्य !
फिर तुम तो असुरेश के सेनाध्यक्ष प्रवीण
तो भी हो उस कमलगत असुर भाव से हीन !"

फिर आये बढ़ वृषभदत्त को सप्रेम हृदय लगाया
बोला "धन्य वंश है जिसने है तुम सम गुन पाया !
वीर ! तुम्हारे लिये देवगण सब कुछ भी सकते हैं
सत्यनिष्ठ की सेवा में हम बलि तक हो सकते हैं !
कितना शुभ होगा, यदि ऐसा ही होता असुरेश
तब न शत्रु हो आज मित्र होते ये दोनों देश !
अस्तु वीरवर ! अब हम इस क्षण से ही फिर जायेंगे
किन्तु तभी न सुरगण अब पीड़ा करने आयेंगे ।

निश्चय मित्र ! अनय है भगते अरि पर शस्त्र प्रहार
किन्तु असुर प्रति था सुरगण-हृदयों में क्रोध अपार !
और नहीं कह सकता यदि तुम काम में न आ जाते
तो असुराधिप आज कौन-सी दुर्गति सुर कर पाते ?
अथवा होता जगह तुम्हारी कोई अन्य अधीर
तो फिर वह चाहे होता कितना ही दृढ़ रणधीर
कभी न आज सुरों के कर से वह जीवित बच पाता।
न ही असुरपति किसी भाँति मम कर से बचने पाता !"

सुन मल्हार कृतज्ञ ने माना अति आभार
कहा रहेगा आयु भर, जीवित यह उपकार !
भिन्न नहीं है असुर नर मनुष्यत्व से हीन
उनमें भी है बंध की संस्कृति यद्यपि क्षीण।
इस विधि निज नृप को बता कर सब वांछित काम
विदा हुआ कृतज्ञ कर सबको प्रेम प्रणाम !



पंचम सर्ग

सुर सीमा से सैन्य सह निकल गया असुरेश
सुन सुरेश ने भी दिया सुरगण को आदेश।

"सब सैनिक रण-विरत हो लौटें निज-निज धाम
या यथास्थ मरु-भूमि पर बस कर लें विश्राम !
बस कर लें विश्राम प्रमुख सेनापति जाएं
सीमा पर सब ओर सुदृढ़ चौकियाँ बिठाएं ।
कुछ सुयोग्य चर असुर-सैन्य के पीछे जाएं,
और शत्रु की सब गति-विधि का पता लगाएं !"

प्रह्लाद विजय

तत्काल रणक्षिप्ता समर से लौटने का फूँक गया
फिर सुरों का मुख जिस जिस पथ था वहीं पर रुक गया !
कुछ देर में ही प्राय सब दल प्रमुख दल में आ मिले
उतरा गया अब शान्ति का करने सभी अनुभव चले !

आने पर सब दलों के बजा तूर्य का मग
जिन पवन कर विहग मुख हिर हो चले गगन !

पंक्ति-बद्ध हो जयघोषों से धूम्र घुमाते
बढ़े सम्य गण विजय-मत्त आगे इठलाते !
अकस्मात् पथ में ही स्थित सुरराज मिल गए
देख मोद से सुरगण के मुख-कमल खिल गए !

सम्मुख आ नत शिर सभी भय-मुग्ध-से रुक गए
मानो भक्ता भार से भागों सुर शिर झुक गए !

सुरपति ने भी स्मित मुख की सबकी सराहना
"धन्य सुरो ! कहते हैं हमको धन निबाहना !
तुमने निज स्वातंत्र्य प्रेम सबको दिखा दिया
और धर्म का पाठ जगतगण को सिखा दिया !

अब जयन्त मर गए भगा। पाप बड़ी विपदा र म
प्रात चलेंगे पुरी को। हा विमुक्त पद शान्ति से !"

फिर करके जयघोष मन्य ने पैर बढ़ाया
मानो चढ़ते हुए ज्वार ने दमदा गाया !
मनिद-ज्ञान के सुमन-सुमन ज्ञान जग जगा
रौद्र रस करुणा शृंगार के प्रम पथ जगा !

तब निज निज कृति की कथा पाराग म करन लगे
फिर करके मन म प्रम प्रम-ज्ञान करने लगे !

मन में उनके विजयी का अभिमान भरा था
स्वतंत्रता का सर्वाधिक सम्मान भरा था !
पुर-पुर बसने पर स्वागत के पुण्य-गौरव के;
परिजन से मिलने के नवसुख के उत्सुक थे

चित्र कल्पना सतत ही रंग-रंगकर रच रही थी
भविष्य का प्रत्येक के पुरा स्वप्न लिख रही थी !

किन्तु सौख्य के इन सुमनों में कण्टक भी थे
गौरव-गिरि पर अहि-वृश्चिक-सम दंशक भी थे !
विजय न थी यह शुद्ध रक्त में सनी हुई थी
नीति-त्रुटी यह नर-हत्या पर बनी हुई थी !

इसीलिए वे रिपु-व्यथा पर भी दुख करने लगे
हतों आहतों की कथा पर निःश्वास भरने लगे !

कितने ही निज हत मित्रों को लगे गिनाने
और लगे कितने ही दरदर अश्रु बहाने !
लगे दूसरे, आगे बढ़कर धैर्य बँधाने
जीवन की अनित्यता के सिद्धान्त सुनाने !

कितने ही निज जनों के अन्त हेतु मन भरता था
पश्चात्ताप करने लगे करुणाकर जिनेश का !

इसी भाँति भर सम्भ्रमता-पथ में चलते भूप
आ पहुँचे अरि शिविर में जयस्तम्भ-भर के भूप !
शत्रु-शिविर में ही लगा सुर अमर-शिविर अनूप
अष्ट प्रहर पश्चात् भू पर उतरे भूप !

किन्तु था उनको कितना कहीं इस समय भी समुचित विश्राम ?
कर्म के ज्ञाता को जिस क्षण नहीं रहता यह सुख काम ?

मल्लार विजय

एक युग का भी बनना प्रमुख बना देता है जीवन-भार
अनेकों के युग-युग का ध्यान अनेकों के विभिन्न व्यवहार
और आवश्यकता की जान पूर्ति करना सबकी समान
व्यक्तिगत सुख-साधन अधिकार, धर्म पर धर देना बलिदान
आदि बन जाते हैं कर्तव्य कार्य बहुत हैं नितप्रति नव्य
एक भी भूल न इस कर्तव्य में गिनी जाती है अक्षम्य ।

तब करोड़ों के युग के प्रमुख व्यक्ति का है जिसने पद लिया
कष्टों में ही जिस नियुक्त किया को अभी पर है लिया
कहाँ ही सकता है जिस समय चिन्ताओं का उमड़ी अब्द ?
निकट आते हैं उनके कहीं अगणित धर्म अनन्त ?
पर सेना को उत्सव-मग्न भजकर करने को आराम
और सुन्दर को परीक्षा शिविर श्रम स करके उन्हें प्रणाम
ग्रीष्म पश्चात् सकल विश्राम बैठ पाये हैं महिम मित्र मान
देखने को पावन आवास सुख सरपति में किया प्रयाण ।

जयन्त था वन में प्रणित पास सदा स्वच्छन्द
देख हुआ मल्लार को साथ तथा आनन्द !
फिर अगर भर …… करके …
दैवे बचना उन्हें भी कर …-युत बन्द !

देख कर हुआ … गम्भीर विस्मित का का उचित प्रश्न
नहीं था [illegible] का सुख … … नहीं भी … !
देर … का … बंधाना … का …
… बना … हुआ … माया … !

मातृ भगिनी का-सा शुचि प्रेम कार्य-क्षमता तत्परता शान्ति
व्यथित से व्यथित हृदय की तुरत मिटा देती थी सारी क्लान्ति !
तदपि कितनों ही की लख विकृत-देह, पीड़ा से हाहाकार
करुण क्रन्दन सुन देख सुरेश-हृदय हो उठा क्षोभ अपार !

अवस्था थी भी ऐसी ही दुस्तर दुर्दशों से परिपूर्ण
कि जिसको देख वज्रवत कठिन हृदय भी हो सकते थे चूर्ण !

कुछ रोते थे व्रण-पीड़ा से कुछ मरने से घबराते थे
कुछ निज कुटुम्बियों को सुमिरण कर-कर शोकाश्रु बहाते थे।
विश्वास नहीं करता था फिर निज गृह था लखने का कोई
पोषक-विहीन परिवारों को जीवित पा सकने का कोई।
कोई निज रुग्णा माता की स्मृति से विह्वल हो जाता था
कोई निज करुण कथा में चित भोजाभी का दहलाता था।

कुछ दरिद्र थे भूखों मरते पत्नी से खरचा लिए बिना
निज जीवन-यापनार्थ उनको कुछ साधन-समिधा दिए बिना
कुछ फँसकर व्यर्थ प्रलोभन में छिपकर निज निर्बल माता से
थे भग आए, अब करते थे रो रो फ़रियाद विधाता से !
सबका था जीवन एक करुण दुख-घटनावलियों की माला
सबको था करना पड़ा सुमान को केवल तन की ज्वाला।

सैनिकता प्रिय थी उन्हें नहीं वीरत्व धर्म का ज्ञान न था
निज राष्ट्र प्रेम का राजा का कुछ भी मन में सम्मान न था !
वे पशु थे केवल निज पालन रक्षण की चिन्ता करते थे
वह तुच्छ स्वार्थ के पन्नों में पन्नों की भाँति सिमटते थे।

है कर्म पाप या पुण्य परा इसकी परवाह न करते थे
धनदाता के संकेतों पर मुनि-सम सहज न मरते थे!

सुरराज-हृदय, सुन सब बातें करुणा भय से भर काँप गया
उनकी धन की प्रसन्नता को मानो वह तत्क्षण भाँप गया!
वह लगे सोचने "हाय! स्वार्थ है कितना घोर अनाचारी
जिस भाँति स्वार्थ के दासों की जाती है सुधि मति मति मारी!
जिसको जग के जगदीश्वर ने सविवेक महान बनाया है
उनको भी इन धनवेगों ने पशुता का पाठ पढ़ाया है!

और मूर्ख ये सैनिक भी क्यों अन्धे हो मरते हैं?
क्यों औरों के कहने से ये पौरुष से गिरते हैं?
अन्त समय निज हानि का जब तो ये गुण ही पाएँगे
स्वामी कहलानेवाले तब कब आड़े आएँगे?

युद्ध नहीं शुद्ध धर्म-न्याय है हिंसा नहीं प्रगति है
स्वार्थस्थापित सुरराज हो बस उसकी अनुमति है!
वह भी तब जब और किसी विधि रहा रहे न सम्भव
युद्ध बिना निश्चित हो जब होना स्वार्थ-पराभव!

अब भाग लेना उसमें सैनिक को तभी उचित है
जब यह समझ ले बिना समर के सर्वनाश निश्चित है!
या जब हो विश्वास उसे निज स्वामी का पथ निश्चित
कि वह कदापि न लेता था? भाग विजय अनुचित!

अन्यथा उदर भरने को या धन-संग्रह करने को
स्वजन-मरण पथ देना जन-जन करने गुण भरने को!
युद्ध नहीं करना है जबकि बाधक है
स्वामी सेवक दोनों का ही आत्मा का घातक है!

वास्तव में जिस शासन का है ध्येय राज्य-विस्तार;
अथवा भय द्वारा मनवाना सबसे निज अधिकार।
राज्य नहीं, वह है अत्याचारों का सुगठित समुदाय;
उसके साथ योग देना है गर्हिततम अन्याय।

फिर इन युद्धों के होने के लिए कौन है दायी ?
क्या हों युद्ध मिलें यदि युद्धों को न विमूढ़ सिपाही ?
इस विधि से सैनिक केवल हिंसा ही नहीं कमाते
हैं स्वतन्त्र निर्दोष जनों को परवश-दास बनाते।

फलतः वे जन परवश होकर जितने दुख पाते हैं
उन सबके भी पाप इन्हीं के सिर मारे जाते हैं।

क्या बिगड़ा हिरण्यकश्यपा का क्या सेनापतियों का ?
क्या बिगड़ा युग के देवेन्द्रों-चक्रवर्तियों का ?
गए सुरक्षित वे निज गृह को मरे दलित बिचारे;
इधर मरे वे उधर मरे भी प्राण अकिंचन सारे।
हा कितने वंशों का दीप ही अस्त हो गया होगा
एकमात्र कितने हृदयों का रत्न खो गया होगा।

इस भाँति विमनस्क सरिता में खोये ज्ञान, उतराते
अपने इन भावों से हर्षों का मन ही मथ्य बनाते।
धीरों का करते ज्ञान भरोसा इसे पैर बँधाते
स्वयं अधीर बने मुनिपति उन वीरे नयन से नत।

गए बढ़ी से देखने समरभूमि का हाल
किन्तु हृदय था बढ़ी का पीर अपरिमित विकराल।

घाव-स्रवे पुष्प-सा था लाल-लाल रक्त-भरा
श्याम रंग लिए मूल भूमि से लगा हुआ
आती थी जहाँ लों दृष्टि वहीं लों था मानो प्रति
पल्लव पाषाण तृण पात में पगा हुआ।
फैला हुआ भूमि पर, सृष्टि का विषम वस
भी था मानो उसी रक्त रस में रंगा हुआ
चारों ओर रक्त-प्रिय पक्षि पशु बोलते थे
मानो मन्त्र-शास्त्र का प्रमाण हो जगा हुआ।

मानों की कतारें बने दामन कोसों तक
भिन्न भिन्न भाषा का कसीदा-सा सजाए थी
कर-करताल थी निमीड़ की निमीड़े यहाँ
कोई मनु-प्राणु नग धाम भी सजाए थी।
कोई हँस रही थी ता दाँत पीसती थी कोई
कोई प्रतिशोधी का स्वागत न दबाए थी
कोई मणि मोल ही रही थी बोर में है कोई
परिघ उठाए नेर पाये को सजाए थी।

कितने ही करों में रत्नमणों के मोले मूट
वे लिपाए रत्न पाणि को ही व अगराग रहे
कितने ही कोनों में प्रसार लाल धूल पुष्प
पड़े थे ज्यों हों तृण या लो थे पूरे लाल रंगे।
कितनों की पोंथा के भरे व पशु पात्र भी थे
कितने मर्यादा ढाल में बना स्वरूप रहे
कितने ही थे कपाटो-कराहें ही मानो
पगों में थे ढेर गए शत्रु के निशान रहे।

कंकण विवाह के बँधे थे कितनों के कर,
कोई निज प्रेमिका का चित्र लिए आए थे
कई भिन्न-भिन्न इष्टदेव-मूर्ति यन्त्र आदि
वसनों के नीचे बड़े यत्न से छिपाए थे !
कोई निज दृष्टि और बाहु दोनों धूम्र-दिशा
एकटक प्रार्थना के भाव से उठाए थे
कोई चेतहीन पड़े आज भी कराहते थे
कोई आँख-मींच ज्यों समाधि ही लगाए थे !

कितने ही जड़ सब अवश हो-हो अंगहीन
रक्तप्रिय जन्तुओं से भीत भये फिरते
कितने थे भागने में असमर्थ उठ-उठ,
चीख-चीख करुण पुकार कर गिरते !
कितनों का आधा तन खा चुके थे गृद्ध आदि
तो भी थे वे प्राण बचाने के यत्न करते
और उठते थे भूमि पर पड़े हताश जब
तब वे विकल कण्ठ से पुकार करते !

गीदड़ गरुड़ कुछ जम्बुक बिडाल आदि
लगे थे शवों को निज-निज ओर खींचने
चोंचों में पकड़ कठमूल आँतों की डोरें
खींच-खींच खींचते थे भींचते औ खींचते !
शवों में छिपे हुओं के भी न बचते थे प्राण
हिंस्र जन्तु न छोड़े भी जीवितों को भींचते
पंजों से नोंच फिर काट-काट चोंच-चोंच
ले छूटे मग पर दूसरे घसीटते !

देख यह दशा सुरपति अतिशय विकल हो उठे
उनके अगाध प्राण प्रेम-प्लुत हुए रो उठे !
कहने लगे कि 'क्यों जग अन्धा हो जाता है ?
क्यों दुनिया में एक-दूसरे को खाता है ?
भूमि और साम्राज्य हैं अब तक भी किसके हुए ?
कौन इन्हें जाते समय हैं अपने संग ले गए ?

अहो ! आज कितनी माताएँ रोती होंगी
कितनी नव वधुएँ निज मांगें खोती होंगी !
अंग-हीन बनकर कितने दुख पाते होंगे
कितने कोमल कुसुम मूक मुरझाते होंगे !
कितने वंशों में नहीं कोई भी रह जायगा
कितनों का इस प्रलय में तन मन सब बह जायगा !

पशु तक संग्रह व्यर्थ नहीं करके रखते हैं
भूमि पड़ी समस्त सब मिल जुलकर रहते हैं !
कोई अपने लिए और को नहीं सताता
अपना दूसरों का घर अपना नहीं बनाता !
किन्तु ज्ञान में श्रेष्ठ सुर असुर, मनुज पशु वृन्द से
भी अधिक हम परस्पर लड़ते हैं आनन्द से !

प्रेम-कुसुम की मार को कब पहुँची तलवार ?
फिर भी हैं सब खोजते मूर्ख युद्ध-व्यापार ?
फिर है स्वार्थ हमारा होता पशु मारे जाते हैं
मरते हैं सब दूर बेचारे व्यर्थ मार खाते हैं !
ये देखो [illegible] किन्हीं संकोच बिन हैं
लड़ते हैं मरते हैं फिर [illegible] मारा-मारा फिरते हैं !

किन्तु भाव है इसके दृग पर कौन क्या दिखलाता ?
इसकी आहों पर है दो आँसू भी कौन गिराता ?

श्रमिकों की हम करके शोक मनाते हैं उनका उपकार
आश्रितों को भी उनके कहीं दिया जाता है कुछ उपहार !
पर इन्हें हैं हम मारें भून इस तरह क्यों हैं ये पाषाण
नहीं होता इनको कुछ कष्ट नहीं हों इनके तन में प्राण !
करेगा इस अनीति को भला क्षमा कब वह जग का कर्तार ?
दृष्टि में है सब जिसकी एक सुर असुर, पशु-कृमि विहग-गँवार !

स्वर्ग में नर्क शोणित पान शान्ति-वध कर मानें अभिमान
और इस नर्क पथ के लिए करें उत्सव का-सा सामान !
कहें गुरु ये कि सृष्टि का पिता एक ही है सबका भगवान
प्रकृति की सृष्टि में प्राणी सभी एक पितु-मा की है सन्तान !
जल थलचर नभचर हों या कि गृहवासी या निर्झर वृन्द —
सभी हैं भ्रातृ भगिनि सम एक वृहद परिवार के सुहृद-बन्धु !

किन्तु व्यवहारों में सब भूल परस्पर मिलकर करें प्रहार
बहाएँ हँस-हँस निज सामर्थ्य बन्धु के विमल रक्त की धार !
और इसको मानें वीरत्व धर्म कर्तव्य देश उपकार
कहूँ इस काम-बुद्धि को क्या ! धन्य मानव तेरे विचार !

किन्तु औरों को मैं क्या कहूँ ? देवगण ! जिनके अवतार
और जब वे ही करें रक्त-पान कर विश्व का संहार
दूसरों की निन्दा का उन्हें तब कहाँ रहता है अधिकार ?
जिनका भजना औरों को त्याग किस तरह जा हो स्वर्ग मँझार ?"

●

छठा सर्ग

पाकर गुरुराज के शुभ सान्त्वना उद्गार,
अनुभव करते हुए के चमत्कार का सार

महाकपि बोले "प्रभो! शोक न कीजे व्यर्थ
सहना है हमको सदा नित्य रक्षा के अर्थ!
नित्य रक्षा के अर्थ देव साकार हुए हैं
ध्यान कीजिए, जिनके सुर-नर दास हुए हैं।
जिनके चर अरु अचर सम्मिलित होने-वाले
जिनके जिन को पार न कोई, भले-भले!"

बोले मुनिपति "सच है, प्रण सम्भव हित असुरों के
निर्दोषों परमार्थों पर प्रहार हित असुरों के।

किन्तु पाप प्रति पाप देवगण ! पुण्य नहीं हो जाता
कोई पाप की जगह अग्नि से ज्वाला नहीं बुझाता !
और क्या कहा मित्र रक्षा ? यह ही तो है वह जाल
जिसकी छाया में चलते हैं स्वार्थी अपनी चाल !

इसी आड़ में तो सदा लुटते हैं बलहीन
छलते जाते हैं अमित लोक, बनाकर दीन !

लेकर यहीं स्वाधिकारों के प्रचारादि का नाम
कहीं बनाने को असभ्य लोगों को सद्गुण-धाम
रखने को पड़ोसियों के गृह में भी कहीं सुशान्ति
कहीं देखकर पर की वृद्धि से होगी जग में भ्रान्ति !
और कहीं पर युद्ध में निज हित की रक्षा करने को—
ही तो होते हैं तयार जन रण करने मरने को !
मित्र रक्षा को ढाल बनाकर ही तो दुष्ट सशक्त
सदा बहाते हैं निरीह निर्दोष जनों का रक्त !

किन्तु इन्हीं बातों से यदि बन जाय न्याय्य संग्राम
तो फिर बुरा कहा जाएगा कौन जगत में काम ?
डाकू तक बनकर बलिष्ठ करते जो अपनी रक्षा
युद्ध करेंगे गुरों को देने को निज मन-दीक्षा !

इसी नीति के बल से तो असुरों में है यह हाल
कि खून मारण-मरण व्यभिचार, इसी का नाम
मिथ्या-भाषणादि सभी के बनते सदा रक्षण
रक्षण समझकर करते हैं निर्भय अनीति का पोषण !

अतः स्वयं रक्षार्थ ही है हिंसा-वृत्ति भी धर्म
है निज रक्षा धर्म तो भोजन तक अपकर्म !

फिर क्या डरते हैं सुरगण निज प्राणों के जाने से ?
अथवा अन्यायों के सम्मुख निष्क्रिय डट जाने से ?
या जीने-मरने में उनके लिए भेद है भारी ?
जीवन-मरण, नहीं हैं दोनों एक क्षेत्र की क्यारी ?
नहीं ? तब कहो आवश्यकता है इन तलवारों की ?
सिद्ध व्यापकता होती है कब इन निर्दय वारों की ?

और सुरों का असहयोग है आज कौन सह सकता ?
बिना हमारे कौन कहो क्षण भर भी है रह सकता ?
किसकी कृति गति मति का चक्का तुरत नहीं रुक सकता ?
कौन बली है जो सुर-बल को देख नहीं झुक सकता ?
आज हमारी सहायता ही से तो सब चलता है !
पत्ता भी जब पवन देव के योग बिना हिलता है ?"

पार्षद बोले "देव ! वस्तु है जो जीवन की आश्रय
उन्हें छीन या विनष्ट करके करना शत्रु पराजय
भी क्या पाप है ? फिर यह करना कैसे सम्भव होगा ?
फिर भी हिंसा बिना किस तरह शत्रु पराभव होगा ?"

सुरपति बोले "हाँ ! है जीवन-साधन हरना पाप
पर इसमें मिलता है सुर-समाज के बल का माप !
एवं जो समाज हो जितना शक्ति-प्राप्त का आकर
उतना ही होता कान्तिप्रद उसका विवेक का सागर !

फिर जीवन साधन हरकर भी यह तो क्या हो साम्य
कि हम उन का साधन यदि कर दें तद्वत् साम्य !

प्रश्न यह नहीं है कि करें हैं हम निज रक्षा-धर्म
प्रश्न है कि ये धर्म सत्य क्या सभी हो चुके व्यर्थ !
निःसन्देह स्वधर्म और स्वातंत्र्य न जाने देना,
सभी शक्तियों का इनकी रक्षार्थ सहारा लेना
है प्राणी का धर्म किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है
कि उपयोग पाशविक बल का समुचित सभी कहीं है !

धर्म-अर्थ भी पशुबल का उपयोग नहीं समुचित है
और किसी भी भाँति सत्य रक्षा बल असम्भवित है !

या जो व्यक्ति अनय से यदि भी क्षुब्ध नहीं भय त्यागे
नहीं सत्य पर दृढ़ रह सकता तलवारों के आगे !
या है नीति-हीन यदि जिसका दर्प जिसके आश्रित ॥
है निर्बल शरणागत रोगी तथा अयाचित सम्पति !
या जिस बल प्रयोग से हो प्रतिपक्षी का उपकार,
उसके लिए निहित है परन्तप ! पशुबल का व्यवहार !

नहीं वीरता है विभुवो ! बैरी का वध करने में
है वीरत्व सत्य पर निर्भय हो हुए मरने में !
सच्चा विजयी है न वह जो विजय हारकर पा जाता है
प्रत्युत वह जो बिना झुके निज प्रण पर मिट जाता है !
स्वरक्षार्थ तो प्रतिपक्षी पर नहीं करेगा वार
जिस मृत्यु से भय है या है तन से मोह अपार !

जो हिंसा एवं भय का है जन्म-जनक सम्बन्ध
निर्भयता में या ही उसकी नहीं भाव भी गन्ध !
है बलिदान वही जिसमें हो न विजय का भेद
जिसमें हो केवल निरपेक्ष रहना का पाथेय !

जग-कुटुम्ब है तब कुटुम्बियों पर क्यों शस्त्र प्रहार ?
उन्हें मारने से तो मरता ही है अपना परिवार !

जब देवपिपुरी बिन मति-बल किए गए सभी मान
तब क्यों रह सकते न सुर उसी रक्ष से अपनी मान ?
क्रोध जहाँ है वहाँ रहेगा निश्चय ही अपमान
जिसमें किया न्याय हो सकता नहीं कभी बलिदान !

बुद्धियुक्त प्राणी है मानव ! जिसके इस भूतल पर,
साधंबन ही उसके जीवन का है इसपर निर्भर।
करते हैं पशु जिन कामों का सम्पादन पशुबल से
मनुज सिद्ध करते हैं वो बुध मनन दूरता, इस से
वही बुद्धि से और मनन-क्रम से सब यथार्थ करता
विकृति प्रकार में भी विवेक-अधीन पथ पर ही चलता
शासनगण में यही बुद्धि है राजनीति कहलाती
यही नाम है समाज में आध्यात्मिकबल का पाती !

फिर हो विद्गनि-निरवृत्त पशु-बल न सेना कार्य विहित हो
तो क्यों रखना हो पर-सुर असुरों का बुद्धि मलिन हो ?

और किया है क्या हमने असुरों की ही संस्कृति को ?
अपनाने न क्या के न समझ गहन य इस दुर्मति का ?
हम भी तो कब उनका पालि न्याय कर बैठे गये हैं
कब उनके प्रति कटु भाव सुर हृदयों में लाये हैं ?
कब उनके प्रति का गुणगान गाये हैं हम
फिर कभी दूसरों का उस का न निज संस्कृति-गुणगान ?

ये कुछ न कर स्वयम् भूले हैं वे सब सुख शासन में
इस रण में भी न थी द्वेष-ज्वाला किस-किसके मन में !
इस विधि क्या दायित्व नहीं है हमपर भी इस रण का ?
क्या है मात्र असुर दल ही उत्पादक इस कारण का ?"
कहते-कहते कुछ विस्मित हो फिर सुरपति उठ बोले—
'धन्य प्रभो ! मम चक्षु आपने ठीक समय पर खोले !

ठीक आज से सुरगण अपना रौद्र रूप फेंकेंगे
सचमुच अब सचराचर में वह बन्धु भाव देखेंगे।
जिसे देखना ही है उनका प्रकृत-धर्म एकान्त
'आत्मवत् सर्व' होगा अब उनका सिद्धान्त !
उत्तेजना न अब सुरगण को क्रोधित बना सकेगी
कोई शक्ति न अब सुरगण में यह रण ठना सकेगी !

स्वर्ग-पुरी को छोड़ रहेंगे अब सुर सचराचर में
स्वर्ग ही नहीं अब सुर-शासन पहुँचेगा घर-घर में !

पद-च्युत होकर भी वे निज धर्म नहीं छोड़ेंगे
किन्तु साथ ही तृण को भी कर हम नहीं तोड़ेंगे !
अब सुर-शासन का आधार न होगा पशुबल शक्ति
अब सुर-शक्ति रहेगी बनकर ममता सेवा भक्ति !
अब संतोष करेंगे पर न स्वयम् ही बनकर भिन्न
होगा उनका ध्येय बनाना सबको समय अभिन्न !

जब तक सारा विश्व न समझे प्रेम-धर्म का सार
तब तक सुर यह मंगलमय जीवन मानेंगे भार !
होगा उनका प्रमुख धर्म बस सबके प्रति समदृष्टि
नास्तिक आस्तिक सबपर सत्य-कृपा की प्रेमिल वृष्टि !

धन्य धन्य है साम्य शान्ति है यही नित्य गाएँगे
सब जग को वे क्षमा-धर्म की महिमा दिखलाएँगे ।

इस निश्चय से सुरपति मन में पाई अद्भुत शान्ति
उनके मुख पर झलक उठी इस पवित्र मन की कान्ति !
महक उठा हो कठ शिला पर घर्षित मानो चन्दन
अथवा तप परिताप अग्नि में स्वर्ण हो गया कुन्दन !
पश्चात्ताप अग्नि में चिन्ता भस्म हो गई सारी
घूम गई आँखों में भावी जीवन की सुख-क्यारी !

इसी समय सुर शिविर में ले गुरु का आदेश
आया एक पदाति मन्द चाप बढ़े सुरेश !

कुछ क्षण में सुरराज पधारे गुरु का सन्तुष्ट बनाए,
स्निग्ध हास्य की वर्षा करते गुरु-निवास में आए !
गुरु ने स्वागत कर सादर, आसन पर उन्हें बिठाया
और सहास कहा "यह है कैसा वैराग्य लगाया ?
क्या सारे कर्तव्यों को गुरु ही पूरे कर लेंगे ?
महासमरों को इस गुफा में कुछ भी भाग न लेंगे ?

इस उदासी में यह जकड़े तन लेकर कहाँ गए थे ?
इस असमय में समर भूमि से क्या मन रमा रहे थे ?"
सुरपति ने निज मनोव्यथा का सारा हाल बताकर
दर्शाया है मन में घोर दैन्य पुनः मन कातर
कहा गविष्ट किसी तरह यह नहीं समझ में आता
क्या इस प्रसार जग को ? मरुताराम ने भरमाया ?"

सुर-गुरु यह सुन, हर्षित होकर लगे सोचने मन में—
स्यात् पुनः अब ऋतुपति आने वाले हैं सुर-वन में !
तब ही तो प्राचीन संस्कृति फिर प्रस्फुटित हुई है
तब ही तो सुरपति-मन में यह करुणा जागृत हुई है !
ठीक प्रतीक्षा थी जिसकी मुझको यह वही समय है
अब इस संस्कृति-दृढ़ता पर ही निर्भर शांति-विजय है !

फिर प्रसन्न हो बोले 'सुरपति ! सच है यह अनुमान
सुर-जीवन में था न कभी हिंसा को इतना मान ।
पूर्व काल का सुर-जीवन था वास्तव में आदर्श
कौन था सका है जग में उससे बढ़कर उत्कर्ष ?
वह जीवन अद्भुत था उसमें विकृति कहाँ रहती थी ?
जीवन क्या था भक्ति-सुरसरी भूतल पर बहती थी !

कभी विकार न उनके मन हर पाते थे अधिकार
सुर-शिशुगण तक प्रौढ़ सिद्ध सम करते थे व्यवहार !
हृष्ट-पुष्ट सबके तन सुरगण सब श्रद्धा भाजन थे !
सब लोकों में शान्ति-सौख्य फैलाने के साधन थे !
सुरगण के जीवन का था तब जग में इतना मान
कि सब समाजों में पाया उसने उच्च स्थान !

सब ने थे स्थापित किए भिन्न-भिन्न देव-समाज
करते थे जाने जहाँ स्थापित स्वर्ग-स्वराज !
कहीं रहते थे प्रभुवर इन्द्र कहीं स्वामी भावी ऋतुराज
कहीं मुनि कहीं वृद्ध आचार्य कहीं करते थे शिशु-समाज ।
सुरों का रख सम्मुख आदर्श बना निज सदन विश्व-कल्याण
सभी थे करते थे तप-त्याग-भक्ति पर निज जीवन निर्माण !

काम था इनका दुर्बल दलित दीन जन का करना उपकार
सिखाना सबों को सन्मार्ग पतित-जन का करना उद्धार !

त्याग कर सारे सुख-व्यापार स्वार्थ हिंसा प्रपंच अपकार
विश्व में करना सत्य प्रचार, न्याय का फैलाना अधिकार !
यहाँ विद्या वैभव कुल राष्ट्र आदि घेरों से रहना मुक्त,
सभी पर रखना सम अनुराग सभी को देना मति उपयुक्त !
सभी को रखना सम्मिलित न बढ़ने देना कहीं अशान्ति
भले हो उनको इसके लिए, करानी होवें शासन-क्रान्ति !

सुरपति आज किस तरह फिर यह फैला द्वन्द्व ?
क्यों जग के आदर्श गुरु फँसे स्वार्थ के फन्द ?"

गुरु बोले, "है यह भी सुरपति ! एक सुदीर्घ कहानी
यह युग भी था आज की तरह ही युद्धों का मानी !
उस युग में भी आज की तरह सर्वमान्य था दम्भ
छल, प्रपंच पारस्पर स्वार्थ से राजनीति के स्तम्भ !
युग के थे सब पथ, स्वार्थिक तत्वों के गुण गाते
किन्तु स्वार्थ के समय सभी ये इतनी याद भुलाते !

विभावों व विवरण विरोधी भी था व्यवहारों में
जीवन के दस-युग व्यय होता था रण हथियारों में !
अन्त में सभी देवों का भी उत्तम मति उपजाया
न ले मिलकर उसे नष्ट कर देना ही ठहराया !
निश्चय हुआ सभी देवों को सार्वभौम बिठलाया
तब उसका सब राष्ट्र-समूहों के प्रतिनिधि बुलवाना !

सुरपुर में ही हुआ अन्त में समारोह यह भारी
तपोभूमि गया उस दिन भी यह चिर-सुमनों की क्यारी!
भिन्न-भिन्न भाषा आकृति वाले विभिन्न देशों के;
भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले भिन्न भिन्न वेषों के
    राज्य प्रजा सब के प्रतिनिधि विद्वान और व्यवसायी
    सबने मिल थी विश्व-शान्ति की नूतन नीति बनाई!

सुरपति ने सौत्सुक पूछा "वह क्या था कर्म विधान?"
कहा गुरु ने "सुनो तात! उसका संक्षिप्त बखान।

निश्चय हुआ प्रथम तो हिंसा रण को अघ ठहराना
पाप मानना वैज्ञानिक रण समिधा-शोध बनाना!
और स्वार्थ वाणिज्य-यन्त्र-कौशल का नाम मिटाना
प्रकृत-संस्कृत जीवन को ही धर्म-नेम कहलाना!
    सत्य बोलना सत्य आचरण करना और कराना
    जाति राष्ट्र सम्प्रदाय आदि के अनुचित भेद मिटाना!
    तथा मादक द्रव्यादिक के अनीतिमय आयोजन—
    को प्रश्रय प्रसार किसी विधि देना कभी न पालन!

किन्तु नहीं साधारण झगड़ों का मिट सकता नाम
काम क्रोध मद करते ही हैं जग में अपना काम!
नहीं जगत में सब योगी मुनि अथवा सुर बन सकते
कदाचित् ही नहीं द्वन्द्व व्यक्तियों में भी हैं ठन सकते!
    अतः हुआ निश्चित उनका भी निश्चित पथ ठहराना
    यथासाध्य उनको रण हिंसा पथ से मुक्त बनाना!

नियम बना यदि लड़ना तो भी छल से काम न लेना
सोते शत्रु को भी समर-भवन में भी धोखा देना !
न ही भयानक विनाशक शस्त्रों-अस्त्रों का अपनाना
और न जन-जीवन में निर्धन पर शस्त्रास्त्र चलाना !

गुरुकुल को सबने इस नव-युग का शासक ठहराया
और उन्हीं को सब राष्ट्रों का न्यायाधीश बनाया !
कुछ काल बरसा हुए धन-जीवन आक्रान्त
अपनाये माने सब मार्ग उज्ज्वल विश्रान्त !
गुरुकुल का तब धर्म हो गया रखना सुरक्षित सेना
युद्धकामियों के विरुद्ध उस को सहायता देना !
युद्ध न होने देना जग में शान्ति प्रवाह बहाना
सब युद्धों में इन नियमों की विनय अथवा बतलाना !
वैज्ञानिक अन्वेषि भी वहाँ सब रहने आते थे
जिन्हें सम्मान मिला व निज गुरुकुल पाते थे !

गुरुजी बोले "अभी भी हुई ! तब की राज-व्यवस्था ?
युद्ध मान्य सब राष्ट्रों की स्वाधीन अवस्था !
कहा गुरु ने "युद्ध व्यवस्था तो थी सबकी एक
इन नियमों के पालनार्थ था बाध्य राष्ट्र प्रत्येक !

जो नियमोल्लंघन करता था वह दण्डित होता था
गर्तों की गुणानुसार निज दण्डित करना पड़ता था !

सब व्यवस्था लोगों की न्याय पर ही निर्भर थी
शासन-सत्ता सब राष्ट्रों की जनता की अनुचर थी !
धर्म-नीति से युक्त समुन्नति निज शासन करते थे
संघर्ष सब जनता का सम्पत्ति को अनुसरते थे !

सुरपुर में ही हुआ अन्त में समारोह यह भारी
तपोभूमि क्या उस दिन थी यह चिर-सुमनों की क्यारी !
भिन्न-भिन्न भाषा आकृति वाले विभिन्न देशों के
भिन्न-भिन्न व्यवहारों वाले भिन्न भिन्न वेषों के
राज्य प्रजा सब के प्रतिनिधि विद्वान और व्यवसायी
सबने मिल की विश्व-शान्ति की नूतन नीति बनाई !

सुरपति ने सोत्सुक पूछा "वह क्या था धर्म विधान ?"
कहा गुरु ने सुना तात ! उसका संक्षिप्त बखान !

निश्चय हुआ प्रथम तो हिंसा रण को पाप ठहराना
पाप मानना वैज्ञानिक रण समिधा-योग बनाना !
और स्वार्थ वाणिज्य-धन्य-कौशल का नाम मिटाना
शान्त-संयत जीवन को ही धर्म-क्षेत्र पहचाना !
सत्य बोलना सत्य आचरण करना और कराना
जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि के अनुचित भेद मिटाना !
ऐसा मादक द्रव्यादिक के अनीतिमय आयोजन—
जो प्रत्यक्ष परोक्ष किसी विधि ऐसा कभी न पावन !

किन्तु नहीं साधारण अपराधों का फिर भरना नाम
काम क्रोध मद करते ही हैं जन में अपना काम !
नहीं वचन व मन कोई मुनि अथवा गुरु बन जाना
कदाचित् ही नहीं इन व्यक्तियों में भी हैं दम भरने !
पर हुआ निश्चित उनका भी निश्चित वध ठहराना
यथासाध्य उनको रण हिंसा क्रम न मुक्त बनाना !

नियम बना यदि लड़ना तो भी छल से काम न लेना
नहीं शत्रु को भी समर-स्थल में भी धोखा देना ।
न ही भयानक विनाशक शस्त्रों-अस्त्रों का अपनाना
और न बल-कौशल में निर्बल पर शस्त्रास्त्र चलाना ।

गुरुगण को सबने इस नव-जग का शासक ठहराया
और उन्हीं को सब राष्ट्रों का न्यायाधीश बनाया ।

युद्ध काल अपना गुरु [illegible] आक्रान्त
मध्यस्थ थे माने गए, भाव तटस्थ निभ्रान्त ।

गुरुगण का तब धर्म हो गया रखना सुगठित सेना
युद्धकारियों के विरुद्ध दल को सहायता देना ।
युद्ध न होने देना जग में शान्ति प्रवाह बहाना
सब भुवनों में इन नियमों की विजय ध्वजा फहराना ।
धार्मिक अत्याचारि भी नहीं तब रखे जाते थे
जिन्हें [illegible] थे मिले गुरुतर पाते थे ।

गुरुवर बोले "[illegible] तब की राज्य व्यवस्था ?
पूर्ण स्वाधीन सब राष्ट्रों की न्यायाधीन व्यवस्था ।
कहा गुरु ने "भूप स्वराज्य तो था सबकी एक
इन नियमों के पालनार्थ था बाध्य राष्ट्र प्रत्येक ।

जो नियमोल्लंघन करता था वह दण्डित होता था
दोषी की गुरुतानुसार निज शक्ति राज्य खोता था ।

केवल व्यवस्था लोगों की न्याय पर ही निर्भर थी
शासन-सत्ता सब राज्यों की जन पर ही अनुचर थी ।
सब-वर्गों से चुने [illegible] मिल शासन करते थे
संचार सब जनता की सम्पत्ति को अनुसरते थे ।

निर्वाचन द्वारा नियत होता नहीं नरेश,
कहीं गुणों की परीक्षा का था नियम विशेष!
जो होता उत्तीर्ण, वह पाता नृप-पद-नाम
कहीं वंश का प्रमुख ही लेता प्रमुख स्थान!
कहीं आयु भर एक ही जन करता था राज
कहीं तीसरे-पाँचवें वर्ष बदलता ताज!

इनमें भी थे कई भेद कुछ रखते थे गृह-सम्पत्ति
कुछ रखते थे सभी ग्राम का अर्जित धन एकत्रित!
फिर उससे होती थी सबके लिए समान व्यवस्था
ऐसी ही विभिन्नता-मय थी तत्कालीन व्यवस्था!

ग्राम-कोष में सभी वर्ग की क्रमशः जमा होती थी
वहीं मृतक की उत्तराधिकारी जनता होती थी!

इस धन से ही ग्रामों का सारा शासन चलता था
दुष्कालों में इस ही से सबको भोजन मिलता था!
इस ही के द्वारा की भी जाती सब सम्पत्ति सिंचित
इस ही के द्वारा रखा जाता था ग्राम सुरक्षित!"

पूछा नरपति ने 'कैसे थे गुरु! शासन तुम तंत्र?"
गुरु बोले "है ठीक नाम! जैसा अपना गुरु-मंत्र'

सार यह कि दो स्तम्भ मूल थे सभी व्यवस्थाओं के
प्रथम बलवान प्रबुद्ध सार्व-जीवन सम गणनायों के!
और स्वच्छन्द था स्वार्थ, जिससे धर्मनीति शासन में
साथ भाग लेने के प्रस्तुत शासन-संचालन में!

हर कुटुम्ब को शिक्षित कर के पूर्ण स्वतंत्र बनाना
तथा व्यक्ति पर शासन साम्य समिति से ही करवाना!

कुलवंशों में कुलभूषण सा कुलपति कुल का नायक था
यह समूह मर्यादित स्वतंत्रता का आराधक था ।
किसी भाँति का भी शासन स्वीकार न ये करते थे
हो स्वतंत्रता की रक्षा में सब मिलकर मरते थे ।
बल से वे होते थे सबसे अधिक स्वाधीनप्रिय स्वामी
धर्मनिष्ठ सेवाप्रिय एवं शान्ति-धर्म अनुरागी ।

कृषि करते थे पुरुष सरस महिलाएँ बुन लेती थी
वृद्ध-मण्डली नवयुवकों को सत्शिक्षा देती थी ।
कर-स्वरूप या अथवा कुछ न किसी को न देते थे
हाँ अपने निज ही लोगों की विपत्ति स्वयं लेते थे ।
जो कुछ उपार्जित होता उस ही में रहते थे खुश
एक व्यक्ति भी उसमें मिलता था न लालची कुछ ।

प्रेम रंग में थी रंगी उनकी सब कुल रीति
प्रेम धर्म था प्रीति ही थी उनकी कुल-नीति ।

कुलपति कुल-भार धारकर करता था सब काम
मुखिया कहते जिसे ही नामाधार, गौरव !

निज भाव से जो कुछ कहता थे लोगों को दे देते
किन्तु स्वयं का कभी कौड़ी भी न किसी से लेते !
किया हुआ पर इसी ध्येय थे उनके निज व्यवहार
किसी दास प्राणी का दुख भी था उनको दुखकार !
फिर भी स्वतंत्रता प्यारा था है ये अपार स्वाभिमान
यह हुआ कि एक बार जब सदा अन्याय सब निर्बल !
गुरुदेव ! है यह सब कथा से वयम अहो, कुन्तल
सो है उचार दुख यह रूपम जिनमें उनको मारा !

सुरपति बोले "अहा ! विश्व यह कैसा सुन्दर होगा !
सचमुच ही वह परम पिता का जीवित मन्दिर होगा !

गुरु बोले "तब सुरपुर से भी मर्त्य कहीं बढ़ कर था
सुर गण से भी शुभ मनुष्यों का चरित्र बढ़कर था !

सत्य प्रेम स्वातंत्र्य, साम्य सहयोग पवित्र सरसता
थे सब के स्वाभाविक गुण निश्छलता और मृदुलता !

देश-देश उस पवित्र जीवन को सुर अपनाते थे
बार-बार नर-तन धरने को मृत्यु-लोक आते थे !

किन्तु अन्त में उस युग के भी मिटने का दिन आया
धरा ध्वस्त कर सतयुग में कलि ने पैर बढ़ाया !

क्रमशः भूतल पर असुरों का दंभ जमा अधिकार
निर्बल जन पर जाई ने फैलाया निज व्यापार !
दंभ बना अज्ञान स्वार्थ में डूब गए सब देश
फँसे विनाश-पाश में क्रमशः सारे प्रजा-नरेश !
धनशाली सुर-मनुजों तक ने अनेक असुर अपनाए
लगे सीखने जिनसे ही उनकी ही युद्ध कलाएँ !
सुरने निज स्वार्थ असुरगण की मन की अपनाया
कुछ संगति से धीरे सुरगण असुरों में मिल गया !

अन्तः कामनाएँ आत्मा को अविरल रहीं सताने
स्वार्थी यदि भी सब दुनिया ही की शांति बढ़ाने !
स्वार्थ बल दया ममता और ले त्याग प्रेम का बादा
अभिलाषों की अमर स्वार्थ-भूमों में रंग जमाया !
और आज तो जिनने ही सुर-मनुज समाज भय भूल
जिनने है आसुरी प्रथाओं को स्वार्थ का मूल !

इस ही भूलभुलैया में है भूल रहा जग सारा
पथच्युत मानव भ्रम-भौंरा को मिलता नहीं किनारा !

सुरगण ने स्वभावतः इसमें भी बाधा पहुँचाई
सुत नारियों के विरुद्ध भी पूरी शक्ति लगाई !
इसीलिए सुर असुर स्वभाविक शत्रु गिने जाते हैं
दोनों भिन्न-भिन्न मार्गों को अपने में अपनाते हैं !
तब ही मैं सुरपन में नास्तिकता को अपनाया है
और तभी से सुर जीवन में तामस-सा छाया है !"

गुरुवर बोले "शिशु भ्रम का है यह सब व्यर्थ
मेघ रहित नभ में भला बिजली का क्या अर्थ ?

विगत चुकी है अब सारी प्राचीन व्यवस्था
न वह विश्व भी न है सुरों की रही अवस्था !
तब यह नीति के बाण बँधे सुर-शिशु समान है
पुण्य नहीं पापों के संग्रह का विधान है !
धन भरा है तन तब फिर निज का अहंकारता
फिर अपने सुर-धर्म का ही तन-मन से पालना !

बोले सुत "हे धीर भगवन् यह मात सुरगण
इस धर्माधर्म-युग का भी है अब दूर किनारा !
यही नहीं अब तो इस युग अन्धकार में
नगर-नगर परिपूर्ण मिथ्या निज ध्यान में
माता को ऐसा नहीं है उत्तर पानी नहीं
शक्ति नहीं राम के लिए निज तन पानी नहीं !

सुरपति बोले "अहा ! विश्व यह कैसा सुन्दर होगा ।
सचमुच ही यह परम-पिता का भौतिक मन्दिर होगा ।

गुरु बोले "तब सुरपुर से भी मर्त्य नहीं बढ़ कर था
सुर गण से भी सुख मनुष्यों का परिम बढ़कर था !
सत्य प्रेम स्वातन्त्र्य साम्य सहयोग पवित्र सरलता
थे सब के स्वाभाविक गुण निश्छलता और मृदुलता !

देख-देख उस पवित्र जीवन को सुर ललचाते थे
बार-बार नर-तन धरने को मृत्यु-लोक जाते थे !

किन्तु अन्त में उस युग के भी मिटने का दिन आया
जरा ग्रस्त उस सतयुग में त्रेता ने पर बढ़ाया !

क्रमशः भूतल पर असुरों का फम बसा अधिकार
निर्मल मन पर काई ने फैलाया निज व्यापार ।
फैल चला अज्ञान स्वार्थ में डूब गए सब देव
पड़े विलास-पाश में क्रमशः सारे प्रजा-गोप !
अपनाली सुर-मनुजों तक ने अनेक असुर प्रथाएँ
लगे सीखने जितने ही उतनी ही युद्ध-कलाएँ !
गुदने निज स्वार्थ असुरगण की मन का अपनाया
गुरु संपति से सीखे गुदनो असुरों ने निगलाया !

अब कामनाएँ आत्मा का अतिरस नहीं बचाने
स्वार्थों यदि भी मन तृष्णा ही की भीति बढ़ाने !
स्वार्थ बन गया मया मोह में स्वाम प्रम का पाया
अभिलाषाओं की जगह स्वार्थ-युद्धों ने रंग जमाया !
और आज तो जितने ही सुर-असुर तमक भय भूल
गिनते हैं आसुरी प्रथाओं को स्वधर्म का मूल !

इस ही भूलभुलैया में है भूल रहा जग सारा
भ्रमता जाता भ्रम-नौका को मिलता नहीं किनारा !

सुरगण ने स्वभावतः इसमें भी बाधा पहुँचाई
पुण्यादिकों के विरुद्ध भी पूरी शक्ति लगाई !
इसीलिए सुर असुर स्वभाविक शत्रु गिने जाते हैं
दोनों निज-निज आदर्शों को जग में फैलाते हैं !
तब ही से सुरगण ने दैविकता को अपनाया है
और तभी से सुर-जीवन में धार्मिक-पन पाया है !

सुरपति बोले "किन्तु अब तो है यह सब व्यर्थ
मेघ रहित नभ में चमका विद्युत का क्या अर्थ ?

बिगड़ चुकी है अब सारी प्राचीन व्यवस्था
न वह विश्व की न है सुरों की रही अवस्था !
अब यह सृष्टि के कारण बंध मृग शिशु समान है
पुण्य नहीं पापों के संग्रह का विधान है !
अतः भला है इसे तज फिर निज का सद्भावना
फिर सच्चे सुर धर्म की ही तन-मन से पालना !

बोले गुरु "है ठीक प्रश्न यह तात तुम्हारा
इस अशान्ति-युत का भी है अब दूर किनारा !
यहाँ नहीं अब ना इस दुःख पारावार में
भंवर-भंवर-परिपूर्ण निराला सिंधु-ज्वार में
आशा की रेखा कहीं दिख अब आती नहीं
शान्ति कहीं जग में मिल मिलने तक पाती नहीं !

उससे हम हैं इस प्रवाह में बहे जा रहे
बड़ी-बड़ी संस्कृतियों को भी हैं भुला रहे।
मात्र देख भिन्न बिम्ब मरीचिका भूल रहे हैं
मात्र राजसिक कर्मों में ही झूम रहे हैं।
श्री-सत्ता का मोह भी है ही उनमें बढ़ रहा
और शक्ति-अभिमान भी है ही क्रमशः चढ़ रहा।

किन्तु तुम्हें भी एक काम की बात बताती
सुर-वनिते! मात्र असुरपति की पटरानी।
हिरण्यकशिपु छोड़ गया था उसे अरक्षित
यद्यपि वह भी गर्भवती एवं ज्वर-पीड़ित।
पाया सेना ने उसे मात्र एक दासी-सहित
ठहरा सकी न है वह मातृ-पुत्र सुरक्षित!"
रानी को? तब सुरपति बोले कुछ आश्चर्य दिखाकर
"अच्छा नहीं किया गुरु! रानी को बन्दिनी बनाकर।
यदि थी हम अनुचर भी तो भी अरि-आक्रामों से
बदला लेना था भला हम इन दुर्दिन घटनाओं से।
महिला फिर वह कोई भी हो है सुरगण की वंद्य
उसको बन्दिनि करके रखना ही है अनुचित-निन्द्य।

गुरु बोले "अनुचित तो इसमें कुछ भी नहीं हुआ है
सुर-सेना ने युद्ध नियम का ही अनुसरण किया है।
शत्रु जनों को धर लेने को थे अधिकार मान्य
सुरक्षित-स्थान देना था उनको नहीं किसी विधि मान्य।
हाँ वह महिला होने से भी विशेष आदरणीय
और है किया गया इस दिशा में सब कुछ करणीय।

अस्तु अभी सेनापति नारद मुनि को बुलवाऊँगे
और वह उन्हें लेकर अरिदल में पहुँचा आएँगे!
किन्तु देव! है उसे आपके दर्शन की अभिलाषा
वह विदुषी है और मुझे है उससे अद्भुत आशा
रह रह मेरा मन कहता है वह कुछ रंग लाएगी
इसकी प्रतिभा ही असुरों को मरण दिखाएगी!

अतः आप पहले तो जाकर, कुछ भोजन पा लीजे
फिर कुछ देर शयन कर इस नगर तल को सुख दीजे!
सन्ध्या समय स्वस्थ होकर फिर उसको बुलवा लेना
उसके हृदय भाव सुन जो समुचित हो निर्णय देना!
जाइए! न अब और किसी झगड़े में फिर फँस जाना
वरना पड़ेगा मुझे आज "सत्याग्रह" पथ अपनाना!

गुरु आज्ञा स्वीकार कर हँसते हुए सुरेश
गए शिविर निज [illegible] निदेश!

दीर्घ यात्रा का आया देख अन्त कुछ धीमे पड़ते हुए
अंशुमाली के रथ के अश्व थक जाने से बढ़ते हुए!
इसलिए न शुरू ही होकर [illegible] रवि भी कुछ मन्द
रश्मियाँ भी दिन भर की दौड़ धूप से हो गईं थी [illegible]!
कुछ डरते डरते निज नैन खोलने को थे तारक वृन्द
बंजारों के दल प्रमुदित मन देखने गति-शाम के रंग!
इसी समय [illegible] के पीछे, निज सुरपति के [illegible]
[illegible] गया रवि चरणों में गमन बढ़ाने निज [illegible]!
स्वर्ग [illegible] की नारी [illegible] निज [illegible] हुई
[illegible] अम्बर [illegible] हुई!

कितनी महिमि स्वपर-मन-मनी भूमितल पर यों हो स्थिर रही
भाव-मोहन थो ज्यों निज मनोभाव मुखम पर हो मिल रही !
समक्ष सगमंगम मानो महिषि-हृदय-रानी को करते स्पष्ट
पड़े हो आदर देते हुए लगे कहने सुरराज सहर्ष !
'तुम्हारे उचित मान सत्कार में रही हो यदि कोई भूल
पुत्रि ! तो करना हमको क्षमा अवस्था है न यहाँ अनुकूल !
मुझे यदि होता पहले ज्ञान न तुम आई हो आती यहाँ
यहाँ होती असुरों की सभ्य तुरत पहुँचा भी जाती यहाँ !"

देख यह विनोचित सद्भाव और सुरपति की पावन मूर्ति
शिव-सदृश वह प्रशान्त दृष्टि जो जगत को देती थी स्फूर्ति
हृदय रानी का सहसा सरस शिशु-सदृश भावों से भर गया
गर्व की भीति से यह भूल मान-रक्षा भय का गिर गया !
रहा सकुचित न फिर संकोच भार पलकों पर से भी उठा
गुरु वाणी के बन्धन शिथिल भीरुता के बन्धन से छुटा !

जोड़ कर सविनय कहने लगी सुरों की सभ्यता सुर राज !
धार्मिकता पवित्रता प्रीति छिपी है जग में जिसमें आज ?
नहीं हूँ मैं नारी की तरह एक क्षण को भी करती गर्व
मान होता है मुझको तो कि निरे हर में हैं मैं रह रही !
स्वयं है मैं ता माँ का पशुत्व की हानियों पर सुरराज
समझ न ही कुछ पाता नहीं क्षमा भी माँगूँ किस विधि आज !

कहा मानती मैं यदि यह देव ! मुझे है कितनी तुमसे ग्लानि
गर्व नहीं है कितनी यह मुझे स्वयं ही पर जीवन की हानि !
जानता है वह ही जगदीश मुझे इस राज का है जो मोह
सताता जगे हुए जो नहीं मानते निज-पर तक में भेद !"

ग्लानि से सहसा शशि-मुख-कान्ति इस तरह धुँधली-सी पड़ चली
मूँद सकने से ज्यों प्रभ हीन हो चली हो नव चम्पा-कली !
ग्रहण करने का आगम मान्य अतिथि को देने शुभ आदेश
मधुर वीणा-स्वर से पीयूष-वृष्टि-सम कहने लगे सुरेश !
'रचा है विधि ने महिमा-कुसुम क्षमा-शुचिता-स्नेह की खानि
स्वाभाविक और योग्य है देवि ! तुम्हारे लिए युद्ध से ग्लानि !
चाहता हूँ मैं कितना अहो ! न्याय होगा ईश्वर न किया
दिया होगा पुरुषों का वही हृदय जो तुमको उसने दिया !

असुर-महिषी बोली सुरनाथ ! शुभ तो है यह दृढ़ विश्वास
कि रमणी प्राणिमात्र पर प्रेम मात्र है धर्म और परिहास !
अमर क्या होगा मेरा प्रभो ! युद्ध करना मैं गिनती पाप
यदि ईर्ष्या-लालच को सदा मानती अत्याचार का माप !
अहा ! यदि होता यह, तो आज विश्व होता वैसा सुख-केन्द्र
जिस तरह मिलकर रहते सभी असुरपति शुचि सुरेन्द्र महेन्द्र !
किन्तु न जाने क्यों विधि ने है की पुरुषों की रचना ?
क्या लिख दिया भाग्य में जय के है यों मरना पचना ?
क्या है काम क्रोध लालच का होना जहर पिलाया ?
क्यों है जग में प्रेम उर होना को प्रमुख बनाया ?

बोले सुरपति सत्य है सुभ्रु ! यह अनुमान
[illegible] में है प्रेम ही निष्काम अति उन्नत !
प्रेम प्राण है [illegible] है जीवन के [illegible]
[illegible] सुख है [illegible] और चमत्कार !

किराती महिषि स्वप्न-लग्न-सी भूमितल पर यों हो स्थिर रही
काष्ठ-सादृश को ज्यों निज मनोभाव मूरत पर हो लिख रही।
समझ असमंजस मानो महिषि-हृदय-रानी को करते स्पर्श
खड़े हो सादर ऐसे हुए, लगे कहने सुरराज सहर्ष !
तुम्हारे उचित मान सत्कार में रही हो यदि कोई भूल
मुनि ! तो करना हमको क्षमा समस्या है न यहाँ अनुकूल !
मुझे यदि होता पहले ज्ञात न तुम आई ही जाती यहाँ
जहाँ होती असुरों की सैन्य तुरत पहुँचा दी जाती वहाँ !"

देख यह विक्षोभित सद्भाव और सुरपति की पावन मूर्ति
त्रिय-सदृश वह सत्यासार दृष्टि जो जगत को देती थी स्फूर्ति
हृदय रानी का सहसा सरस शिशु-सदृश भावों से भर गया
गड़ ही भौंह में वह दृग लाज-धारा मय वा गिर गया !
रहा मधुरित न फिर संकोच भार पलकों पर से भी उठा
सुर रानी का अवगम विमल भीरुता के संपुट से छुटा !

जोड़ कर अविनय करने लगी गुरों की गरिमा सुर राज !
पावित्रता नम्रता प्रीति छिपी है जग में कितने राज ?
नहीं हूँ मैं नारी भी तनिक तप ध्यान को भी बदली गई
भान होता है मुझको जो कि निज गृह में हूँ मैं रह रही !
स्वयं हूँ मैं ना नहीं सत असुरों की इतियों पर सुरराज
समझ में ही तुम पाना नहीं क्षमा भी माँगूँ किस विधि आज !

क्षमा माँगी मैं यदि कर देर ! मुझे है कितनी इसकी ग्लानि
सत्कर्मा है कितनी पर तुम स्वयं ही मन शीतल की हानि !
जानता है वह ही जगदीश मुझे इस रात का है जो भेद
मनाना उर करे था नहीं मानते निज-मन मन में खेद !"

ग्लानि से सहसा शशि-मुख-कान्ति इस तरह धुँधली-सी पड़ चली
शरद सपने से ज्यों प्रभ हीन हो चली हो नव चम्पा-कली !
ग्रहण करने का आसन मान्य अतिथि को देख शुभ आदेश
मधुर वीणा-स्वर से पीयूष-वृष्टि-सम कहने लगे सुरेश ।
'रचा है विधि ने महिला-हृदय क्या शुचिता-स्नेह की खानि
स्वाभाविक और योग्य है देवि ! तुम्हारे लिए युद्ध से ग्लानि ।
चाहता हूँ मैं किंचित कहूँ । न्याय होता ईश्वर ने दिया
दिया होता पुरुषों को वही हृदय जो तुमको उसने दिया ।'

असुर-महिषी बोली 'सुरनाथ ! मुझे तो है यह दृढ़ विश्वास
कि रखना प्राणिमात्र पर प्रेम मात्र है धर्म और परिहास !
मगर क्या होगा मेरा प्रभो ! युद्ध करना मैं गिनती पाप
रूप ईर्ष्या-मात्सर्य का धन्य मानती करुणाकर का आप !
अहा ! यदि होता यह, तो आज भिन्न होता क्या युग-देवेन्द्र
जिस तरह मिलकर रहते सभी मनुष्यादि सुरादि सुरेन्द्र महेन्द्र !

किन्तु न जान क्या विधि ने है की सृष्टि की रचना ?
क्या लिख दिया भाग्य में जग के है यों मरना पचना ?
क्यों है काम क्रोध मानव का इतना [illegible] ?
क्यों है जग में द्वन्द्व न होना का असुर बनाना ?

बोले सुरपति 'सत्य है सुभे ! यह अनुभव
अन्तर का है प्रश्न ही ! निस्सार अति ज्ञान !
प्रेम प्राण है देह है सौरभ के उपहार
शुद्ध सुमन है प्रेम-सूत्र सारे व्यापार !

प्रेम है प्रसाद शान्ति के चकोर हृदय को
प्रेम है पीयूष भक्ति-सुधा के दीवानों को
प्रेम है प्रदीप पन्थ भूले पथिकों के लिए
प्रेम पापहारिणी प्रभा है पथ-भ्रान्तों को।
प्रेम ही है नाव पतवार भव-सर पार
होने काम सौरवती यही मतिमानों को
ज्ञान का है प्रेम ध्यान का है ध्येय प्रेम एक
प्रेम मोक्ष रूप है मुमुक्षु बुद्धिमानों को।

और यह तो है प्रेम ही कि सृष्टि-मूल ही में
प्रेम और द्वेष दोनों प्रकृति प्रधान हैं
विश्व रचना ही कह रही है पुकार, मात्र
प्रेम है प्रकृत द्वेष प्रेम-व्याघात है।
गृह, ग्राम नगर, समाज राष्ट्र राज्य—सब
ही की रचनाएँ इस सत्य की प्रमाण हैं
युद्ध नहीं युद्ध प्रेम ही है धर्म, विश्व में
बीच इसीलिए प्रेम का प्रमुख स्थान है!"

रानी कहने लगी "प्रभो! है ज्ञान समझ में आती
'प्रेम महत है'—यह मीठी ध्वनि किसको नहीं सुहाती?
किन्तु विश्व में कहाँ प्रेम से सब मिलकर रहते हैं
एक दिवस में कहाँ आज सब मिलकर रहते हैं!
इसीलिए शंका होती है कि है नहीं कुछ भ्रम
होता ही है ग्रहण कदाचित क्या स्वरूप क्या भ्रम?

फिर कहने में कौन प्रेम के संग प्रेम पाता है?
प्राय प्राप्त तो एक नगर का स्वार्थ नजर आता है!

प्रह्लाद विजय

प्रभु ! चकोर तो प्रेम-विवश ध्वनि उच्चारित करते हैं
उसके लिए अग्नि तक को रवि-युग भक्षण करते हैं !
ताकि न रहे विरह न वह ध्वनि-वियोग बनकर हो-
किंतु निभाता है ध्वनि उसपर सब समर्पण भर भी ?"

सुरपति बोले "देवि ! भूल है थोड़ी इस व्याख्या में
नहीं प्रेम-परिभाषा हो सकती विभाव भाषा में !
बतलाता जग के व्यवहारों में है मोहाभास
उसे प्रीति कहना तो होगा करना प्रीत्युपहास !
सच्चा प्रेम न कभी निरर्थक गया है न जाता है
जगदीश्वर तक पर वह अपना प्रभाव दिखलाता है।

देवि ! प्रेम ही तो इस भूमि पर कल्पवृक्ष
मोक्षार्थी प्राणियों को मुक्ति का मार्ग है
विश्व-बन्धुता के प्रेमियों का है प्रधान ध्येय
भक्ति-योग प्राणियों का निज धर्म है !
निज युग-भाग्यों को मोक्ष निमित्त है विवेक
राग छन्दों को बन्धनों का मार्ग है
प्रेम का है प्यार जगदीश के पुजारियों के
पथ निर्विकार कल्याणकर धर्म है।

रानी बोलीं "सच कल्याणप्रद है तो क्या प्रभु ! कहिये,
किसने पाये हैं [illegible] इस युग [illegible] प्रेम में ?
बोले [illegible] धन्य देवि ! [illegible] पूर्ति [illegible]
[illegible] विरोधी [illegible] है [illegible] नाम !

किन्तु प्रेम प्राधान्य पर, इसका कुछ भी भार
पड़ना सम्भव है नहीं यदि बन सके विचार !

हाँ हैं कण्टक कुसुम प्रकृत दोनों ही जग में रागी
प्रकृति देवि ही है जननी रज-तम-सत की अनुगामी !
किन्तु ध्येय है काँटों का कुसुमों का रक्षण करना
न कि पुष्प के एवं पर के जीवन में भय भरना !
इसी तरह रज-तम हैं सत के सर्वोन्नति के साधन
ज्यों जठराग्नि जठर में रहकर करती है रस-पाचन !

किन्तु भूलवश हम साधन को साध्य बना लेते हैं
संयत न कर विकृतियों को नित उत्तेजन देते हैं !

आज नहीं है खाद्य-वसन-धन तन रक्षा के साधन
प्रत्युत तन का ध्येय बन गया है इनका आराधन !
शिक्षा में भी नित्य हमें है जाता यही बताया
लक्ष्य हमारा है संग्रह करना यह नश्वर माया !
नहीं बताया जाता व्यष्टि-विश्व का हित-सम्बन्ध
जिससे हैं परकीय परस्पर हम सबको बन अन्ध !

इसीलिए है आज कर रहे कुत्सित पतन हमारा
इसीलिए है नहीं श्रम को मिलता कहीं सहारा !

हम अपव्यय का काम आप मालिक को कहलाते हैं
या यों मालिक इतर बखेड़ा झगड़ा करते हैं !
बड़ा [illegible] ज्यों हम वैभव-संग्रह जो करते हैं
स्वर्ण मूल्य चोरों की [illegible] पर मरते हैं !
फिर कहते हैं पूँजीपति हैं [illegible] पहले में
या यदि है तो ईश्वर की है भुक्ति-विरति उन्नति में !

आवश्यकता-वश विधि से जिस तक आया जाता है
और सुधा-सम वही खाद्य रोगी को पहुँचाता है।
किन्तु अनावश्यक पन से भी होता स्वास्थ्य विकृत है
यही नियम अन्तर-बाहर जग पर सर्वत्र घटित है।
यदि हम करें सभी का आवश्यकता पर उपयोग
तो न युद्ध हों, न ही द्वेष का रहे जगत में रोग।
फिर है प्राप्त वही जिससे जग कभी नहीं उकताता
और कौन है जिसको हो नित असह्य-कष्ट हो जाता?

एक बात है और देखने में फिर दैनिक आती
सभी प्राप्त भोगों से है रुचि जल्दी ही भर जाती।
फिर उनमें पैदा करती नहीं है निज नूतनता
तब रुचि फिर रहने की हो सकती है दूर कठिनता।
क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि है भूल चुनने में?
आत्म ध्येय के तथा प्रेम के पुण्य-सराग चुनने में?

यदि भौतिक धन भाग ही हों आत्मा के [illegible]
तो न शान्त हों कामना क्यों पाकर निज ध्येय?

रानी बोली "किन्तु देव! यदि और सभी हैं साधन
मात्र स्वार्थ इन्द्रिय-आहूर्त ही है स्वाभाविक जीवन।
प्रश्न यही है मुक्ति प्रेम की फिर क्या सत्य नहीं है?
क्या न आज तपुनाम [illegible] में भी यह स्पष्ट नहीं है?
निज स्वभाव को जब सब सर्वथा भूल जाते हैं?
क्यों गुण-उत्तर भी अमरत्व! पावक बन जाते हैं?"

दुर्गति वाले निश्चय हो हैं यह भी नहीं छिपाता—
यद्यपि प्रकृत नहीं है जो कर्म है जग का पालन।

अथवा जो ऋतु-षष्ठ सभी के अर्थ परम पोषक है
सब बातों में स्वास्थ्य-सुरुचि की उन्नति का द्योतक है !
यदपि मनुष्य अपूर्ण जीव है आध्यात्मिक विज्ञान—
रहता है उसके संचय में केवल बीज समान !
फिर भी यदि उसको न सिखाएँ हम कुछ निज व्यापार
तो निश्चय न करेगा वह जग में ऐसे संहार !

किन्तु वायुमंडल कुछ सिखा मिल उसके जीवन में
कर देते हैं प्रकृति-विरोधी परिवर्तन बचपन में !
विशेषतः प्रारम्भिक जीवन में भौतिक प्रमान
रखता है उसकी कृति-गति मति सब ही पर प्राधान्य !
और विकृति-प्रमान प्रकृति हैं चुम्बक-लौह समान
एक दूसरे का स्वभावतः करते हैं आह्वान !
अतः न हो यदि बाधा तो वे निज गुण दिखलाते हैं
विष को सुधा सुधा को विष दुख का सुख बतलाते हैं !

रानी कहने लगी "कौन है तब प्रभु ! वह अपराधी
जिसकी त्रुटि से आई है इस बार विकृति की आँधी ?
क्या इस युग में कोई ऐसा है ही नहीं समाज
जो इस मर्यादा पर चल सन्मार्ग दिखाता आज ?
या उस समाज में ही रखी नहीं सत्य पर दृष्टि ?
और उसी के कारण सारी भटक रही है सृष्टि ?

ग्लानि का अनुभव करते हुए, राजा गुणनिधि ने सिर नत किए
"दिया जा सकता मुझको दोष कौन है बाकी इसके लिए !
हरि ! हा ! सुर या असुर मनुष्य सभी है एक वंश के भ्रान्ति
पृथक करती है ... उन आचरण एवं चौकिक ... !

यह ऐसे सब ही समुदाय गिने जाते हैं जो अविवेक
हृदय में होता जिनके सतत है, दया प्रेम भाव उदक!

समझने की हैं जिनमें शक्ति स्वकर्मों का निश्चित परिणाम
जिन्हें है दी विधि ने दुर्गम्य बुद्धि-व्यवसायात्मिका ललाम!
सभी हैं यद्यपि दोषी देवि! धर्म के नियमों के अनुसार,
तदपि कहना होगा स्वीकार कि सुरासुर का सर्वाधिक भार!
अधर्मज प्राणिमात्र का प्रमुख व्यक्ति हाय न था मम मन
कि मैं ही बन सकता धार्मिक धाता एवं सुधाम!

किन्तु मैं रूढ़ि-पाश में फँसा देख हा! नहीं सका यह सूक्ष्म
मार्ग करके ही चुनता रहा बढ़ रत्नाकर के भी दूर!
सुरासुर प्रथा ध्येय का अतुल शक्ति के बनते हैं जब दास
नाम पर तब स्वधर्म के मूढ़ धर्म का करते ही हैं नाश!

किन्तु अब इस तरह न है देवि! लोभ की नहीं असत्प्रवृत्ति
स्वजन-गण है हो गई विनष्ट मात्र वह अब तक था गुरु-भूमि!
मात्र सुरगण के पुनरुद्धार-कार्य का है उपक्रम हो चुका
समझ लो गुरु-समाज के लिए युद्ध का भी उपक्रम हो चुका!
लिया था निज बाहों में अमृत दान ही दिन पर गदाप
धार हाथ वज्रिम भी यदि उपेक्षा है सुरगण का काम!

मात्र में सुरगण सुधर कर करके युद्ध करता पर तात
युद्ध प्रतिशोध, विजय दिलवा सकता है न उसको मन्तर!
प्रकृति गति कृति विचार व्यवहार कभी मानव न छोड़ते हुए
दुराग्रह उदार अनुसार क्षमा को भी न छोड़ा हुए
गम्भीरतर स्वार्थ भ्रम व्यापार गर्व का करके गम उपकार
विश्व दानि का करता सब प्यार हाथ न पूजन का हार!

मधुर-महिषी गद्गद हो उठी वह सभी भावों से असमपार
दया-वारिद से मानो विमल सुधा की पड़ने लगीं फुहार !
हो चली उसकी वाणी चपल उठा हृद भावों का तूफ़ान
पूर्ण यदपि देख सिंधु-हृद मथा तरंगों का हो ज्यों घमसान !
अन्त ज्यों-त्यों निज आवेग रोककर, वह श्रद्धा के साथ
स्पर्श कर फिर सुरेश के चरण लगी करने स्तुति जोड़े हाथ !

'धन्य देव ! है त्याग आपका धन्य आपकी प्रीति
धन्य आपकी धर्म-धीरता धन्य निष्कपट नीति !
प्रभो ! आपको छोड़ और है भी किसमें यह शक्ति
जो सारे जग को सिखला दे किसको कहते त्यक्ति !
और कौन है जिसपर सुख कर सकते हों अभिमान
जो कर सके प्राप्त रिपु के हृदयों में भी सम्मान !
जो है प्रतिघातों का बदला प्रेम और भावों से
जो करते अनीति को कुंठित अपने बलिदानों से
जिसका नाम-स्मरण हृदय में सुर उदात्त जिलाए
सेवा ममता त्याग भाव की धर्म-वाहिनी बहाए
या दुखिया मर्त्यों-गण में शम कृपा-दृष्टि बरसाए
जिधर जाय उस ओर प्रेम-पावस के घन उमड़ाए !
यह अभिमान आपका प्रभु ! निश्चय जब सुख लाएगा
निश्चय फिर भूतल पर स्वर्ग उमड़ कर आ छहराएगा !
फिर हम मानव के जन-जन पर सुन्दर फूल खिलेंगे
फिर भूतल के सूखे-बिछुड़े सारे हृदय मिलेंगे !
फिर जन-जन में एक बार ममता-शालिनि वाणी !
शिव-सगुणा की गम्भीर फिर घर घर मंगलवाणी !"

गुरुपति बोले "देवि ! नहीं है इसमें कुछ भी सत्य
मान लिया है मैंने तो पावन धारणा कल्मष !
इसने किन्तु नहीं किया इस ही का है परिताप
कौन कहे क्यों हुई भूल यह, किसका था यह पाप ?"

रानी बोली "देव ! आज तुम पाप भरे भव-भर में
कितने हैं जो करते हों इतना भी विहित प्रहर में ?
कितने हैं जिनको हो निज पथ का प्राण से प्यारा ?
या पर दें इस भाँति धर्म पर, तन मन वैभव सारा ?

किन्तु देव ! होवेगा किस विधि असुरों का उद्धार
जिनके राग-भोग सम्मुख है जग का जीवन सार ?
जब तक उनके लिए न समुचित आप उपाय बतावें !
तब तक सम्भव नहीं शान्ति के शुभ दिन जग में आवें !

गुरुपति कहने लगे "और क्या मैं बतला सकता हूँ
मार्ग एक ही है जिसको मैं स्पष्ट बता सकता हूँ !
यदि शास्त्रानुसार न असुरगण दुष्कृत्य त्यागें
और धर्म ही धर्म-नेम के नियमों का अपनावें !
तो निश्चय ही उनसे होगा जग का कल्याण
वैसे भी तो मेरा ही है जग में मान-स्थान !"

रानी बोली "किसे प्रभु ! है इससे इन्कार ?
बाल-कथा का ध्यान है ऐसा न कि इन्कार !

निश्चय ही कर हाथ निज मन का अन्तर खोला
अथवा जग के सम्मुख निज निज-हृदय खुलाया

पशुबल मय को शासन का आधार बनाना
भय वश हो अत्याचारी के गुण-गण गाना
दोनों ही हैं घोरतम पाप प्राणियों के लिए;
लांछन हैं सभ्यता के दुरभिमानियों के लिए।

और आत्मा निश्चय भी अभिनन्दनीय है
क्योंकि देव आचरण विश्व में वन्दनीय है;
उन ही का आचरण देखकर जग चलता है
उन ही से सद्भावों को पोषण मिलता है।
विश्व-वृक्ष तो सुरपुरी उसका मूल स्थान है
इस का अनुगमन वृक्ष का जीवन-नियम विधान है।

किन्तु यहां नर-असुर भूल में भरे हुए हैं,
और विकृति उन सब को जग में घेरे हुए हैं
नहीं सुरों के दिव्य आचरण ज्ञात उन्हें हैं
न ही सत्कृति-शिक्षा-साधन ज्ञात उन्हें हैं।
पूर्ण अहिंसा-धर्म वे पाल सकेंगे किस तरह?
काक हंस की चाल ही भला चलेंगे किस तरह?

और न जब तक सभी अहिंसा को अपनावें
प्रत्यय को मुख्य धर्म के स्थान न बिठावें
संग्रह का न [illegible] सभी [illegible]
तथा न मिल-जुल, अपना-पराया के भेद मिटावें
तब तक जग की दृष्टि में यह सब होगा व्यर्थ ही
[illegible] न [illegible] ही और न [illegible] समर्थ ही!
यहां गांव ही [illegible] धरा की [illegible] ध्यान में
और विविध जातियां [illegible] जीवन विधान में

तेरा कलित प्यार फिर आ के भी बेचारे
उग गई कुछ साम स्याम से देव ! तुम्हारे !
तभी भावना यह सुन्दर निश्चय होवेगा सफल
तभी विश्व में बहेगी शान्ति-सुधा-धारा विमल !

मूरत्ति सब कहते भ्रमी ! यह तथ्य है संसार से
है भिन्नता नर, गुर, असुर प्रत्यक्ष के आकार में !
प्रत्येक है मनु धन्य सद्गुण ज्ञान के भण्डार में !
है यदि नहीं गुण बाहुबल्य न नहीं व्यवहार में !

फिर भी विभिन्न नर कुम्भ पर पुष्प-मेला
नारी भिन्न एक उत्तम ही धनानी है
गल बाहु चंचलार पाप-पुण्य का प्रवृत्ति
यदि भिन्न हो तो स्व विश्व का रक्षाती है !
इसी भाँति सब नारी सृष्टि का है एक सार
समता विराग शक्ति भी यही निशानी है
यह सृष्टि में भी समानता सम्य रह और
रक्ष समरसता अभिन्न पाई जाती है !

है जग न सर्वत्र ही बुरे भले का भेद
हो सुधरा-सत्य भी है सम्यक् लिये देव !

अन्तर विश्व भाँति भेद के विभिन्न पग
भिन्न भिन्न पन्थ चल जन गुण धारे हैं
दमित कर मनु लिए सब बार बार पर
भेद भाव सब मात देत निवारे हैं !

कोई कटु हैं तो कोई मधुर कसैले तीक्ष्ण
कोई खट-चटक कोई लवण, कोई खारे हैं
तो भी हैं सभी ये एक दूसरे के पोषणार्थ
सारे देह ही की शक्ति को बढ़ाने वाले हैं।

उसी भाँति भेद तो रहे हैं रहेंगे भी सदा
सम्भव नहीं कि भिन्न काक एक राग गाएँ।
सूर्य से सबै सुधांशु-शीकर, यथाहू रवि
रश्मि सैन्य भिन्न रस रंगों की सभा सजाएँ।
वांछनीय मात्र यही है कि एक ध्येय मान
कैसे सारे भिन्न भाव अंगों में बरस जाएँ?
कैसे पात्रतानुसार सानुकूल साधनों का
कर उपयोग सभी विश्व में बसन्त लाएँ?

किन्तु मात्र ही सुरों से न होगा असुरों का त्राण
दूर कर सकते नहीं असुरगण का जीवन-निर्माण।
कारण ऐसा प्रायः सब ही वर्गों में यह भ्रम है
भिन्न अन्य वर्गों से उनका प्रकृति विकृति अनुक्रम है।
मात्र आचरण सवर्गीय के ही हैं उनको साध्य
सवर्गीय आदर्श मानव ही को हैं वे बाध्य।

मात्र सुशिक्षित समाज ही इस सम्प्रवृत्ति का मूल
संग्रह करते हैं जन-जन के प्रति तप से दूर-दूर।
परन्तु असुरों में शिक्षा का है नितान्त निस्सार
मात्र पाशविक जीवन ही है उनका जीवन-सार!
अतः असुरगण में ही जन्म जब कोई सुर होगा
तभी असुर हृदयों में बैठ फिर क्रमोद्धार होगा!

तभी असुरगण वर्तमान पावक पथ को छोड़ेंगे
तभी दूसरे हम भी इस युद्ध से मुख मोड़ेंगे।
असुर-महिषि बोली "यह कम देव! सम्भावित होगा?
पश्चिम में भी सम्भव है क्या दिनकर उदित होगा?
क्या कज्जल में भी उज्ज्वलता पैदा हो सकती है?
गंगा भी क्या कालों की श्यामलता धो सकती है?
सर्प नहीं है हो सकता उदार नहीं गुण दान का?
हार नहीं है यहीं काटने वाला इसके मन का!

गुरुपत्नि कहने लगे "नहीं है पावन गुण भी होगा
और असद् क्यों, यही, देवि! पावनता ही देगी ना?
भेद बने हैं गुण दोषों में उस ही से मिलते हैं
असमता इसे प्राप्त जिस जन से उपमाएँ रहती हैं!
आखिर तम में से ही तो दिनकर प्रकाशित होता है
दलित पद्म में से ही तो पद्म विकसित होता है।
जब हो सकती है असुरों में भी सुन्दरता जगी
तो हो सकती नहीं क्या वहां सम्मति उसकी लेगी?

और मुझे तो ऐसा भासित होता है कि तुम्हारे—
असुरों ही से असुरत्वों के पाप कटेंगे सारे।
सत्कारण है यही जिस के कर्मों की सुन्दर दशा
कि इस कर्म को तुम ही हो इस प्रभ पर्व की दीक्षा।
और शुभ आशा है तुम अवसर न कभी खोओगी
सम्भव पर बल स्व-कर्म से कभी न मुख मोड़ोगी।
रानी बोली "ऐसा देव! इसका क्या कर सकती है?
चींटी क्या इतना गुरु भूधर गम्भीर भर सकती है?

फिर भी यदि मैं कोई भी ऐसा अवसर पाऊँगी
तो निश्चय ही स्वकर्तव्य पर बलि तक हो जाऊँगी !
मेरा सबसे बड़ा ध्येय है पति-कुल का कल्याण
वर्तमान पापाग्नि भीति से करना सबका त्राण !

'नहीं है यद्यपि मुझको देव ! धर्म-सम्बन्धी पूरा ज्ञान
तदपि है इतना तो विश्वास कि है यह विश्व कुटुम्ब महान !
या कहूँ यों कि विश्व है देह और हम सभी अंग प्रत्यंग
एक अणु की भी कृति है सभी विश्व पर लाती अपना रंग !
अत हम जो कुछ सोचें करें ध्येय उसका हो सबका त्राण
तभी हो सकता है सर्वत्र चराचर का निश्चित कल्याण !"

धन्य बोले हैं पुत्री ! यही तो श्रुति-स्मृतियों का मर्म
वास्तव में तो है एक सम ज्ञान न ही भिन्न सब धर्म !
धर्म है प्रकृति धर्म है ब्रह्म धर्म ही इस जग का आधार
धर्म है वह परिवर्तन शक्ति कि जिसका आश्रित है संसार !
किन्तु है धर्म दुधारा खड्ग जहाँ है वह अमृत का द्वार
वहीं है वह दुस्तर, दुर्गम्य विविध वैतरणी की भी धार !
ज्ञान-युत धर्म धर्म-युत ज्ञान जहाँ करता है जग कल्याण
ज्ञान-रत धर्म धर्म-हत ज्ञान वहाँ है विनाश का सामान !

कर्मों का करके बलिदान निरन्तर स्वार्थपरता का भान
दिन-दिन में पाता निज मान धर्म का बने महानुष्ठान !
भोग में योग क्रिया में ध्येय और दुख सुख में धैर्य
विकृति का उद्धार करे मन ध्यान सभी सम हो निर्लिप्त-हर्ष !
हृदय में हर्ष न अवसाद [illegible] कामना में न काम-रत बने
सभी है धर्म प्राण का द्वार जगाता है जग का द्वार

असुर यदि सें इतना ही मान करा तुम गये जग्रहें यह मान
तदपि निश्चय समझो देवि ! कि इससे होगा लाभ महान !

राज़ी करने सभी किन्तु है देव ! नहीं यह सम्भव
कि कर सकूँ मैं असुरों से इन सद्‌भावों का अनुभव !
प्राप्त नहीं है असुरों में यह पद हम प्रवासियों को
जो पैदा है गुणा दोष सबकी वृति इच्छाओं को !

स्वार्थ नाम न हम तो वास्तव में देखी जाती है
दासी है सब सुख हो वसे वृत्तियाँ बहमानी है !
मन के प्राप्त पाखण्डी कर लेता है गाढ़ बन्धन का
यही पोशनी पाता है गति बन्धन भार करण का !
उगाए मिलता जाता है कि है विषय सुख यम
इन्द्रिय-गण का तृप्ति मात्र है महिमाओं का क्रम !

बन्धनहीन हमारे पति है सब कुसुम चरन में
किन्तु पतित हो जाती है हम भू पर भी चिरन में !
हम उनका स्वजन-पालन है वे है दीन दुखीसे
कर गयनी है हम न इस दशा पर स्वजन भी जीते !

सुन रोमांच हो उग्र मुरारि का निश्चित कर बात
हो सकता है क्या असुरों के मन इतने भी भोले ?
देवि ! गुणाकर या प्रमाण कर कै पार करता ?
वे सिंधु-सागर दास नर्मदा बनकर तुम पार है !

बस्ता पर स्नान सभा भी है नारव-सम पात
गान अपने नहीं हुआ बस्तादा का अन्त !
जिस समाज में होता है वसिष्ठ का सम्मान
पकड़ा गया गया है वे दानी-स्नान-ध्यान

नित्य दुर्गुणादिक तृण चुन-चुन मन को स्वच्छ बनाता
हर पौधे की उन्नति कर, पर्याप्त खाद पहुँचाता
नहीं किसी की स्वतंत्रता सात्विक छिनने देता
सबको बना स्वावलम्बी पक गिरे हुए फल लेता !
अहा ! जो नृपति प्रजाजनों से अधिक सुखी रहता है
वह कैसे अपना या पितु वह सच्चा या कहता है ?"

रानी बोली "किन्तु उन्हें होता है कब यह भान ?
हो भी कैसे नृप-मद ही तो है इस मद की खान ?
राज्य स्वयं जब दुराचार, दमन-बल को अपनाता है
तब भय का भय प्रभु ! अन्तर में भी छूट जाता है !
फिर जिनका हो बना लक्ष्य ही मौलिक भोग-विलास
उनको तो पर को परवश रखते ही हा क्यों त्रास ?"

नरपति बोले "यद्यपि नारियों पर ही है यह भार
कि वे करें सर्वस्व लगाकर भी अपना उद्धार !
जग में सबको निज पैरों ही से चलना पड़ता है
बिना हिलाए कर मुख में भक्ष्य भी कब उड़ता है ?
नारी का दम भरना है कायर का काम
सच्चे व्यक्ति करते हैं उद्यम जीवन भर अविराम !

फिर जब तक न बनें महिलाएँ स्वयं शुद्ध धृतिमान
तब तक हो सकता है उनका उन्नति का उत्थान ?
उनका है कर्तव्य स्वयं ही धर्म-मार्ग पर आना
और न जब तक सुधरें उनका जीवन भार बनाना !
सुख रहा है नहीं देवि ! जगती में निज का ज्ञान
अरण्य मात्र भी जीवन शक्ति है जग में नारि समान ?

अब भी कुछ का शान्ति-सौख्य है शर्मा तुम्हारे कर में
इस बस का उपाय युक्ति से करके अपने घर में
तुम पुत्रों को विमल बना सकती हो सब कलुष को
कर सकती हो तत्पर उनको धर्म मर्म भजन को !
देवि ! नारि जो कुमार्ग में पति का साथ देती है
वह निश्चय उसके पापों का भार सिर लेती है !

कारण वह सहधर्मिणि है अतएव भार है उसपर
कि वह करे कल्याण वही हो स्वामी जहाँ कुपथ पर !
यदि पति धर्म-मार्ग तज दे तो अकल्याण कर देना
जब तक तज न कुपथ किसी भी गति में भाग न लेना !
यदि वह [illegible] यह न करे तो पापी अघ-[illegible]
यम-नियम है—सहपापी भी पाता है यम-दण्ड !

और अगर ही निज भार्या के हो या पति के आधीन
पर आधीन रहना भी तो है करना अघ ही मलिन !
जब है हरि के हित कुपथ भी सब-सम कर-तर मान
तब पर आधीन हो जीना कर लेना है अघ-पान !
देवि ! [illegible] पर फिर [illegible]
उस कुमार्ग को फिर वह पाकर [illegible] !"

बोली महिषि [illegible] प्रभु ! [illegible]
[illegible] विरुद्ध [illegible] किस विधि [illegible] ?"

मुनि [illegible] [illegible] भागवत [illegible]
[illegible] [illegible] ! [illegible] !
[illegible]
[illegible] ?

अब भी वृद्ध का शान्ति-सौख्य है सभी तुम्हारे कर में
इस क्रम का उपाय युक्ति से करके अपने घर में
तुम पुत्रों को विवश बना सकती हो सब करने का
कर सकती हो तत्पर उनको धन धर्म भरने का !

देवि ! नारि का कुमार्ग में पति को जाने देना
यह निश्चय उसके माथे अघ अपने सिर लेती है !

कारण वह सहधर्मिणि है अतएव भार है उसपर,
कि वह करे सहयोग नहीं हा स्वामी जहाँ कुपथ पर !
यदि पति धर्म-भाग तब देता समभाग कर देना
अब तक तज न दूषण किसी भी पति से भाग न लेना !
यदि वह अवगत यह न करे तो पापी अघ-भागी
कर्म-नियम है—सहयोगी भी पाता है सम-दण्ड !

और स्वयं ही लिए आता है हा या पति के आश्रित
पर आश्रित रहना भी तो है करना अघ ही संचित !
जब है हरि ने दिया मुझे भी सब-सम करने ज्ञान
तब पर-आश्रित हो जीना पर सकता है अघ मान !
देवि ! नारि रूप भी जा कर सिर बैठा रहता है
उस कुमार्ग को फिर वह साधु नहीं कहता है !"

बोली महिषि "तुम हो गये क्या प्रभु ! इसका इसको ध्यान ?
कृतज्ञ अ लिखा दर है किस विधि ध्यान ?"

मुस्का हँसकर बोले "यह ही तो है भारत अब
हिन्दुस्तान में सब इस पाप बसे है अतिशय !
यदि दुर्बुद्धि दुर्विदित ... करना ही पातिव्रत हो
तो क्या इसके पावन में ... लिए कुल-कुल काके ?

बोल ! इसीकर हो समाज को यह है स्पष्ट मनीति
धर्म कहाती है समाज की धारण-कर्त्री-नीति !
फिर है मूल परस्पर के सब सम्बन्धों का धर्म
मत: त्याग पति स्वधर्म को यदि करने लगे प्रकर्म
तो पत्नी का है हो जाता यह कर्तव्य निवार्य
कि त्याग पति-सहयोग करे निर्भय निज धार्मिक कार्य !
भला अन्यथा भेद रहेगा क्या दासी-गृहिणी में ?
क्या अन्तर होगा व्यभिचारिणि एवं कुल रमणी में ?

हाँ विपवेच्छा लौकिक वश प्रशान्ति गृह में भरना
या न अनुसरण पति का धर्म-विहित कार्यों में करना
निज शृंगार-विलास साधनों पर उत्पात मचाना
कठिनाई को देख भीत हो स्वयम् पृथक रह जाना
छप विमत पति के विरुद्ध षड्-षड्यंत्रों का रचना
आदि पाप हैं और चाहिए इनसे सबको बचना !"

बोली महिषि देव ! तब तो जो दीन प्रसुर बालाएँ,
प्रेम-विवश हो उपपत्नी बन करती हैं सेवाएँ
तज देती है गृह-समाज सम्पत्ति के सब अधिकार
गिनती हैं पति का अन्वानुगमन ही जीवन-सार
एवं पीछे सन्तति-सह गिन भी जाती हैं दासी
उनको ये कृतियाँ भी होंगी अन्त अघों की फाँसी ?

सुन सुरेन्द्र कुछ अस्थिर, एवं होकर फिर गम्भीर;
बोले "निश्चय देवि ! वे सभी कृति हैं पाप कुटीर !
और देवि ! ऐसे कर्मों का प्रेम नाम बतलाना
तो है पावन प्रम-नाम पर चार कलंक लगाना !

सच्चा प्रेम स्वाभिमानी प्राणी में ही होता है
और स्वाभिमानी न कभी निज श्रम-मान खोता है !
वह करता है आत्मसमर्पण आत्मसमर्पण ही कर
नई बलि देता है सर्वस्व सर्वस्वार्पण ही कर !

अधम व्यक्ति जो स्वयं नहीं करता है कुछ भी त्याग
उसके लिए दान-पद लेता है लेता दुर्भाग्य !
देवि ! रचा है ईश्वर ने नारी को पुरुष-समान
मन भीख पर लेता है करता हरि का अपमान !
जो स्त्री विमोहवश है निज पद पर यह दोष लगाती
निश्चय है उस अधम पतित-गति वह दुर्गति ही पाती !

नहीं स्त्री हो गई देवि ! तुम प्रेममयी इस पर्व
कि इस प्रकरण बनाओ जग में यह शान्ति समर्थ !
प्रस्तुत है इस हेतु दिया यह पुरस्कार महिलाओं को
कि वे सतत रोकें पुरुषों की अनुचित कामनाओं को !
और सिखाएँ उन्हें प्रेम से सबसे मिलकर रहना
पर-पीड़न में नहीं और की व्यथा न दुख सहना !
मत इस दिशा में ना रोना तुमको उदय करना
और मधुर इस पर्व प्रभातित होगा वह पथ भरना !

रहा प्रेम सारे असुरों का भी उनका उद्धारक
कि मानव में प्रेम-भाव का मिलन प्रकट प्रमाणक
वर्तमान है सब तुम्हारे निमित्त इस बनाना
अपनी धर्म-सुता सदन सब भवन उस दिखाना !
अमर नाम होगी तुम है यह आशीष हमारा
नारी-युग का अधिकारी होगा पुत्र तुम्हारा !

देव ! हानिकर हो समाज को यह है स्पष्ट अनीति
धर्म कहाती है समाज की धारण-कर्त्री-नीति !
फिर है मूल परस्पर के सब सम्बन्धों का धर्म
अतः त्याग पति स्वधर्म को यदि करने लगे अकर्म
तो पत्नी का है हो जाता यह कर्त्तव्य निवार्य
कि त्याग पति-सहयोग करे निर्भय निज धार्मिक कार्य !
भला अन्यथा भेद रहेगा क्या दासी-गृहिणी में ?
क्या अन्तर होगा व्यभिचारिणि एवं कुल रमणी में ?

> हाँ विषयेच्छा सांसारिक वश अशान्ति गृह में भरना
> या न अनुसरण पति का धर्म-विहित कार्यों में करना
> निज शृंगार विलास साधनों पर उत्पात मचाना
> कठिनाई को देख भीत हो स्वयम् पृथक रह जाना
> रूप विवश पति के विरुद्ध षड्-यन्त्रों का रचना
> आदि पाप हैं और चाहिए इनसे सबको बचना !

बोली महिषि "देव ! तब तो जो दीन असुर बालाएँ,
प्रेम-विवश हो उपपत्नी बन करती हैं सेवाएँ
तज देती हैं गृह-समाज सम्पत्ति के सब अधिकार;
गिनती हैं पति का अन्धानुगमन ही जीवन-सार;
एवं पीछे सम्पत्ति-मद गिन भी जाती हैं दासी
उनकी ये कृतियाँ भी होंगी अन्ध धर्मों की फाँसी !"

> सुन सुरेन्द्र कुछ अस्थिर, एवं होकर फिर गम्भीर
> बोले "निरुपम देवि ! ये सभी कृति हैं पाप कुटीर !
> और देवि ! ऐसे कार्यों का प्रेम नाम बतलाना
> तो है पावन प्रेम-नाम पर घोर कलंक लगाना !

सच्चा प्रेम स्वाभिमानी प्राणी में ही होता है
और स्वाभिमानी न कभी निज धर्म-मान खोता है।
वह करता है आत्मसमर्पण आत्मसमर्पण ही को
सर्व बलि देता है सर्वस सर्वस्वार्पण ही को!

प्रथम व्यक्ति जो स्वयं नहीं करता है कुछ भी त्याग
उसके लिए दान-ग्रह लेना है लेना दुर्भाग्य!
देवि! रखा है ईश्वर ने नारी को पुरुष-समान
धन शीश पर लेता है करता हरि का अपमान!
जो स्त्री विचारवान है निज पद पर यह धन त्यागी
निश्चय है उस पावन पति-आहित का दुर्मति ही पाती!

नहीं रची हो गई देवि! तुम प्रेममयी इस पर्व
कि इस प्रेमरस बैठाओ मन में यह शान्ति-समर्थ!
प्रस्तुत है इस हेतु दिया यह सुर-जन महिमाओं को
कि वे समझ योग्य पुरुषों की अनुचित अनुगामों को।
और मिलाओ उन्हें प्रेम में सबसे मिलकर रहना
पर-जीवन न नहीं और की रक्षा में दुख सहना!
पर इस दिशा में ना हारा तुमको उद्यम करना
और मधुर इस पर्व प्रभातिका छाया का क्षय करना!

रहा प्रथम नारी समुदाय का भी उसका उद्धारक
शिक्षा-सत्र न ब्रह्म-ज्ञान का निर्मल प्रकाश प्रचारक
वरदान है सब तुम्हारे निर्मित उस समाना
अपनी धर्म-सुधा अमृत पवि भरकर रस पिलाना!
गगन सम हमी तुम हो यह आशीर्वाद हमारा
नारी समुद्र का धर्मसत्या होना तुम तुमनाम!

देवि ! पूज्य नारद कुछ क्षण में ही आने वाले हैं;
वह ही तुम्हें स्वगृह पहुँचाने को आने वाले हैं !
उत्तम हो तुम उनसे ले लो भक्ति-योग की दीक्षा;
वह कर सकते हैं सब सत्कार्यों की सरल समीक्षा !
ईश्वर करे, तुम्हारे इच्छा-वन में ऋतुपति आएँ;
फिर इस असुर-अरण्य मध्य सत्प्रीति-समीर बहाएँ !

फिर इस द्वेष-दग्ध जग में सुख का समुद्र लहराए;
फिर, धरती पर बन्धु-भाव की विमल चन्द्रिका छाए !
फिर, मरुथल पुष्पित कुंजों स्मित पुष्पों से भर जाएँ;
फिर कोकिल 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की रागिनी सुनाएँ !
फिर जन की पूजा उठकर हो सत्य न्याय की अर्चा
फिर घर-घर में स्वार्थ छोड़ हो व्यक्ति-भक्ति की चर्चा !

कहकर, मुद सुरपति उठे बरसाते उल्लास
रानी भी ले चरण-रज आई निज आवास !